मोक्षमार्गप्रकाशक का सार

पहला प्रवचन

मंगलाचरण

(दोहा)

मंगलमय मंगलकरण, वीतराग-विज्ञान।
नमौं ताहि जातैं भये, अरहंतादि महान।।

पण्डितों के पण्डित महापण्डित आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी और उनकी कालजयी क्रान्तिकारी कृति मोक्षमार्गप्रकाशक जैनदर्शन के अमूल्य रत्न हैं।

जिनागम को समझने में जो भूलें अज्ञानी जगत करता है, उन भूलों को निकालनेवालों को पण्डित कहा जाता है; पर पण्डित टोडरमलजी उन पण्डितों में हैं; जिन्होंने न केवल अज्ञानी जगत की भूलों को निकाला, अपितु जो अपने को जिनागम का अभ्यासी समझते हैं; फिर भी उसका मर्म नहीं समझ पाने से सद्धर्म को तो प्राप्त नहीं कर पाते, अपितु बाह्य क्रियाकाण्ड में उलझकर रह जाते हैं; उनके द्वारा की जानेवाली भूलों की ओर ध्यान दिलाकर उनका भी मार्गदर्शन किया है। मोक्षमार्गप्रकाशक के सातवें और आठवें अधिकार इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।

यही कारण है कि मैं उन्हें **पण्डितों के पण्डित कहता हूँ।**

यद्यपि वे आचार्य नहीं थे, पर उन्होंने **सत्साहित्य के क्षेत्र में आचार्यों के समान महान कार्य किया है; इसकारण उन्हें आचार्यकल्प कहा जाता है।**

ऐसे पण्डित तो इस लोक में बहुत मिलेंगे, जिन्होंने शास्त्रों को पढ़ा है; पर ऐसे पण्डित मिलना दुर्लभ हैं, जिन्होंने शास्त्रों के साथ-साथ आत्मा को भी पढ़ा हो। कदाचित् ऐसे पण्डित भी मिल जायेंगे कि

जिन्होंने शास्त्रों के साथ-साथ आत्मा को भी पढ़ा हो; पर ऐसे पण्डित मिलना अत्यन्त दुर्लभ हैं कि जिन्होंने शास्त्रों को पढ़ा हो, आत्मा को पढ़ा हो, आत्मानुभव किया हो और इस जगत को भी पढ़ा हो। पण्डित टोडरमलजी उन पण्डितों में हैं; जिन्होंने **शास्त्रों को पढ़ा था, आत्मा को पढ़ा था, आत्मा का अनुभव किया था और जगत को भी पढ़ा था।**

इसका प्रमाण मोक्षमार्गप्रकाशक का २२०वाँ पृष्ठ है, जिस पर उन्होंने लौकिकजनों की धर्माराधना का विकृत चित्र प्रस्तुत किया है।

उन्होंने लिखा है ह्न ''अब, इनके धर्म का साधन कैसे पाया जाता है सो विशेष बतलाते हैं ह्न

वहाँ कितने ही जीव कुलप्रवृत्ति से अथवा देखा-देखी लोभादि के अभिप्राय से धर्म साधते हैं, उनके तो धर्मदृष्टि ही नहीं है।

यदि भक्ति करते हैं तो चित्त तो कहीं है, दृष्टि घूमती रहती है और मुख से पाठादि करते हैं व नमस्कारादि करते हैं; परन्तु यह ठीक (इस बात का पता) नहीं है कि मैं कौन हूँ, किसकी स्तुति करता हूँ, किस प्रयोजन के अर्थ (लिये) स्तुति करता हूँ, पाठ में क्या अर्थ है, सो कुछ पता नहीं है।

तथा कदाचित् कुदेवादिक की भी सेवा करने लग जाता है; वहाँ सुदेव-गुरु-शास्त्रादि व कुदेव-गुरु-शास्त्रादिक की विशेष पहिचान नहीं है।

तथा यदि दान देता है तो पात्र-अपात्र के विचार रहित जैसे अपनी प्रशंसा हो, वैसे दान देता है।

तथा तप करता है तो भूखा रहकर महंतपना हो, वह कार्य करता है; परिणामों की पहिचान नहीं है।

तथा व्रतादिक धारण करता है तो वहाँ बाह्य क्रिया पर दृष्टि है; सो भी कोई सच्ची क्रिया करता है, कोई झूठी करता है; और जो अन्तरंग रागादिभाव पाये जाते हैं, उनका विचार ही नहीं है। तथा बाह्य में रागादि के पोषण के साधन करता है।

तथा पूजा-प्रभावनादि कार्य करता है तो वहाँ जिसप्रकार लोक में बड़ाई हो व विषय-कषाय का पोषण हो; उसप्रकार कार्य करता है। तथा बहुत हिंसादिक उत्पन्न करता है। सो यह कार्य तो अपने तथा अन्य जीवों के परिणाम सुधारने के अर्थ (लिये) कहे हैं। तथा वहाँ किंचित् हिंसादिक भी उत्पन्न होते हैं, परन्तु जिसमें थोड़ा अपराध हो और गुण अधिक हो; वह कार्य करना कहा है। सो परिणामों की तो पहिचान नहीं है और यहाँ अपराध कितना लगता है, गुण कितना होता है ह्न ऐसे नफा-टोटे का ज्ञान नहीं है व विधि-अविधि का ज्ञान नहीं है।

तथा शास्त्राभ्यास करता है तो वहाँ पद्धतिरूप प्रवर्तता है। यदि वाँचता है तो औरों को सुना देता है, यदि पढ़ता है तो आप पढ़ जाता है, सुनता है तो जो कहते हैं, वह सुन लेता है; परन्तु जो शास्त्राभ्यास का प्रयोजन है, उसे आप अन्तरंग में अवधारण नहीं करता।

ह्न इत्यादि धर्मकार्यों के मर्म को नहीं पहिचानता।

कितने तो जिसप्रकार कुल में बड़े प्रवर्तते हैं; उसीप्रकार हमें भी करना; अथवा दूसरे करते हैं; वैसा हमें भी करना; व ऐसा करने से हमारे लोभादिक की सिद्धि होगी ह्न इत्यादि विचार सहित अभूतार्थ धर्म को साधते हैं।

तथा कितने ही जीव ऐसे होते हैं जिनके कुछ तो कुलादिरूप बुद्धि है, कुछ धर्मबुद्धि भी है; इसलिये पूर्वोक्त प्रकार का धर्म का साधन करते हैं।''

उस समय अज्ञानी जगत में धर्म के नाम पर किसप्रकार की प्रवृत्तियाँ देखी जाती थीं; उनका यह सजीव चित्रण है।

एक ही पृष्ठ में पण्डितजी ने तथाकथित भक्तों, दानियों, तपस्वियों, व्रतियों, पूजा-प्रभावना करनेवालों और शास्त्रों का अभ्यास करनेवालों का कच्चा चिट्ठा खोलकर रख दिया है।

आश्चर्य की बात तो यह है कि आज भी समाज में उसीप्रकार की प्रवृत्तियाँ देखने में आ रही हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि अज्ञानियों की

प्रवृत्तियाँ तो सदा और सर्वत्र एक-सी ही होती हैं; इसलिए उनके सन्दर्भ में मार्गदर्शन करने के लिये महापंडित टोडरमलजी जैसे ज्ञानीजनों की आवश्यकता भी सदा और सर्वत्र रहती ही है।

मुक्तिमार्ग पर प्रकाश डालनेवाले इस मोक्षमार्गप्रकाशक नामक शास्त्र की रचना उस समय की जैननगरी जयपुर में विक्रम संवत् १८१८ से १८२४ के मध्य हुई थी।

मार्ग तो हमेशा खुला ही रहता है; परन्तु दिन में सूर्य के प्रकाश में उस पर आवागमन होने लगता है और रात्रि में घने अंधकार के कारण आवागमन अवरुद्ध-सा हो जाता है। समुचित प्रकाश की व्यवस्था होने पर थोड़ा-बहुत आवागमन चलता भी रहता है।

सर्वज्ञ भगवानरूपी सूर्य का अस्त तो हो ही गया है; अतः अब सन्तों, आचार्य भगवन्तों और ज्ञानी धर्मात्माओं द्वारा लिखित ग्रंथ (शास्त्र) रूपी दीपक ही उस पर प्रकाश डालते हैं। **यह मोक्षमार्गप्रकाशक भी एक ऐसा ही दीपक (ग्रंथ) है कि जो इस कलिकाल में मुक्ति के मार्ग पर प्रकाश डाल रहा है और आगे भी डालता रहेगा।**

पण्डित टोडरमलजी ने ग्रंथ के आरंभ में ही इस बात को सयुक्ति प्रस्तुत किया है; इस ग्रन्थ के मोक्षमार्गप्रकाशकपने को सिद्ध किया है; इसकी आवश्यकता और उपयोगिता पर प्रकाश डाला है; जो मूलतः पठनीय है।

मोक्षमार्गप्रकाशक अर्थात् मुक्ति के मार्ग पर प्रकाश डालनेवाला ग्रन्थ, दुःखों से मुक्त होने का उपाय बतानेवाला ग्रन्थ।

जिसप्रकार हम दीपक से दीपक जलाते हैं; इसप्रकार हजारों दीपक जलने लगते हैं; पर वे अन्धकार का नाश सूर्य के समान पूरी तरह तो कर नहीं पाते; फिर भी मार्ग पूरी तरह अवरुद्ध नहीं होता, जगत का काम चलता ही रहता है। उसीप्रकार **केवलज्ञानियों के अभाव में श्रुतकेवलियों ने इस परम्परा को आगे बढ़ाया। श्रुतकेवलियों के बाद आचार्य भूतबली, पुष्पदन्त और कुन्दकुन्दाचार्य जैसे आचार्यों ने महाग्रंथों रूपी बड़े-बड़े दीपक जलाये; उसके बाद भी आचार्यों, सन्तों और ज्ञानी गृहस्थों ने इस परम्परा को कायम रखा। इसप्रकार दीपकों से दीपक जलने की परम्परा आज तक चली आ रही है।**

यद्यपि केवलज्ञानरूपी सूर्य जैसा प्रकाश तो नहीं रहा; पर घना अंधकार भी नहीं हो पाया और आज भी उन दीपकों के माध्यम से मुक्ति का मार्ग चल रहा है और चलता रहेगा।

यह मोक्षमार्गप्रकाशक शास्त्र भी एक ऐसा ही दीपक है कि जिसके प्रकाश में आज भी अनेकानेक लोग मुक्ति के मार्ग पर चलने का सफल प्रयास कर रहे हैं और युगों-युगों तक करते रहेंगे।

इसके आरंभ में ही पण्डितजी कहते हैं कि इस ग्रन्थ में जो कुछ भी मैं लिख रहा हूँ, उसमें मेरा कुछ भी नहीं है, सबकुछ भगवान महावीर की दिव्यध्वनि में समागत वस्तुस्वरूप ही है; जो जबसे अभीतक निर्बाध परम्परा से चला आ रहा है, और मेरे महाभाग्य से मुझे भी प्राप्त हो गया है।

वे मोक्षमार्गप्रकाशक के पृष्ठ ११ पर स्वयं लिखते हैं ह्न

''हमने इस काल में यहाँ अब मनुष्यपर्याय प्राप्त की। इसमें हमारे पूर्व संस्कार से व भले होनहार से जैनशास्त्रों के अभ्यास करने का उद्यम हुआ; जिससे व्याकरण, न्याय, गणित आदि उपयोगी ग्रन्थों का किंचित् अभ्यास करके टीकासहित समयसार, पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, नियमसार, गोम्मटसार, लब्धिसार, त्रिलोकसार, तत्त्वार्थसूत्र इत्यादि शास्त्र और क्षपणासार, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, अष्टपाहुड़, आत्मानुशासन आदि शास्त्र और श्रावक-मुनि के आचार के प्ररूपक अनेक शास्त्र और सुष्ठुकथासहित पुराणादि शास्त्र ह्न इत्यादि अनेक शास्त्र हैं, उनमें हमारे बुद्धि अनुसार अभ्यास वर्तता है; उससे हमें भी किंचित् सत्यार्थपदों का ज्ञान हुआ है।

इस निकृष्ट समय में हम जैसे मंदबुद्धियों से भी हीन बुद्धि के धनी बहुत जन दिखायी देते हैं। उन्हें उन पदों का अर्थज्ञान हो, इस हेतु धर्मानुरागवश देशभाषामय ग्रन्थ रचने की हमें इच्छा हुई है, इसलिये हम यह ग्रन्थ बना

रहे हैं। इसमें भी अर्थसहित उन्हीं पदों का प्रकाशन होगा। इतना तो विशेष है कि ह्न जिसप्रकार प्राकृत-संस्कृत शास्त्रों में प्राकृत-संस्कृत पद लिखे जाते हैं, उसीप्रकार यहाँ अपभ्रंश सहित अथवा यथार्थता सहित देशभाषारूप पद लिखते हैं; परन्तु अर्थ में व्यभिचार कुछ नहीं है।

इसप्रकार इस ग्रन्थपर्यंत उन सत्यार्थपदों की परम्परा वर्तती है।''

पण्डितजी के उक्त कथन से आत्मार्थी भाई-बहिनों को यह प्रेरणा मिलती है कि हमें किन-किन शास्त्रों का स्वाध्याय करना चाहिये और यह भी समझ में आता है कि उन्होंने इस ग्रंथ की रचना किस भावना से की है।

इसप्रकार उन्होंने स्वयं इस मोक्षमार्गप्रकाशक शास्त्र की प्रामाणिकता पर प्रकाश डाला है।

यह मोक्षमार्गप्रकाशक शास्त्र पूर्ण नहीं हो पाया। यदि यह पूर्ण हो गया होता तो इसका स्वरूप कैसा होता ह्न इसकी कल्पना हम कर सकते हैं। मैंने पी-एच.डी. के लिए शोध करते समय इसकी एक रूपरेखा तैयार की थी। वह रूपरेखा मेरे शोधप्रबन्ध और मोक्षमार्गप्रकाशक की प्रस्तावना में दी गई है, जिसे विशेष जिज्ञासा हो, वे वहाँ से देख सकते हैं।

उक्त रूपरेखा मात्र मेरी कल्पना नहीं है; उसका ठोस आधार मोक्षमार्गप्रकाशक में १२ स्थानों पर लिखे गये वे वाक्य हैं कि जिनमें यह लिखा गया है कि इसका विशेष विवेचन हम आगे करेंगे। एक स्थान पर लिखा है कि इसकी चर्चा हम कर्माधिकार में करेंगे। इसका स्पष्ट संकेत यह है कि वे इस ग्रन्थ में एक कर्मों का स्वरूप बतानेवाला अधिकार भी लिखना चाहते थे।

यदि हम उक्त १२ बिन्दुओं पर गहराई से चिन्तन करें तो हम यह आसानी से समझ सकते हैं कि वे इस ग्रन्थ में क्या-क्या लिखना चाहते थे। अभी यह ग्रन्थ ३५० पृष्ठों का है। यदि पूर्ण हो गया होता तो ४ हजार पृष्ठों से कम का नहीं होता। तब हम बड़े ही गौरव से कह सकते थे कि यदि जैनदर्शन को समझना है तो अकेले मोक्षमार्गप्रकाशक को ही पढ़ लीजिये,

जैनदर्शन समझ में आ जायेगा; क्योंकि उसमें वह सबकुछ होता जो जैनधर्म जानने के लिये आवश्यक है।

जैनदर्शन में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता को मुक्तिमार्ग बताया गया है और यह ग्रन्थ भी मोक्ष के मार्ग पर प्रकाश डालनेवाला अर्थात् मोक्षमार्गप्रकाशक है; अतः इसमें सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र का स्वरूप विस्तार से आनेवाला था; जिसे उन्होंने नौवें अधिकार में आरंभ किया है; पर ग्रन्थ तो अधूरा है ही, वह अधिकार भी पूरा नहीं हो पाया।

आरंभ के आठ अधिकार तो मात्र भूमिका ही हैं।

सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र मुक्ति का मार्ग है और मिथ्यादर्शन, ज्ञान चारित्र संसार का मार्ग है। आठ अधिकारों में संसारमार्ग का निरूपण ही हो पाया है। संसार समुद्र से पार होने के लिये संसार के कारणरूप मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र को समझना भी अत्यन्त आवश्यक है। यही कारण है कि उन्होंने इनका विवेचन भी विस्तार से किया।

इससे आप कल्पना कर सकते हैं कि जब संसार मार्ग ही ३५० पृष्ठों में है तो फिर मुक्ति का मार्ग कितने पृष्ठों का होता।

अधिकतर लोग मिथ्यात्व का अर्थ अकेला मिथ्यादर्शन ही समझते हैं; जबकि मिथ्यात्व में मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र तीनों ही शामिल हैं। इसीप्रकार सम्यक्त्व का अर्थ भी अकेला सम्यग्दर्शन नहीं; अपितु सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ह्न ये तीनों ही होते हैं।

विशेष ध्यान रखने योग्य बात यह है कि शास्त्रों में भी कहीं-कहीं इन मिथ्यात्व और सम्यक्त्व शब्दों का प्रयोग क्रमशः अकेले मिथ्यादर्शन और सम्यग्दर्शन के अर्थ में भी होता रहा है; इसकारण प्रकरण के अनुसार इनका अर्थ समझना ही समझदारी है।

आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी ने मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र को अगृहीत और गृहीत के भेदों में विभाजित किया है।

जो मिथ्यादर्शन, ज्ञान, चारित्र अनादि से ही हैं, समझपूर्वक ग्रहण नहीं किये; वे अगृहीत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र हैं और जो सैनी पंचेन्द्रिय होने के बाद मनुष्यगति में कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र के निमित्त से बुद्धिपूर्वक नये ग्रहण किये गये हैं; वे गृहीत मिथ्यादर्शन, गृहीत मिथ्याज्ञान और गृहीत मिथ्याचारित्र हैं।

मिथ्यात्व और सम्यक्त्व का गृहीत और अगृहीत के रूप में किया गया वर्गीकरण जैसा मोक्षमार्गप्रकाशक में उपलब्ध होता है, वैसा उसके पूर्व में दिखाई नहीं देता। पण्डित टोडरमलजी के उत्तरकालीन विद्वानों ने इस सन्दर्भ में उनका अनुकरण किया है। **पण्डित दौलतरामजी कृत छहढाला की दूसरी ढ़ाल मोक्षमार्गप्रकाशक के प्रतिपादन का ही संक्षिप्त रूपान्तरण है।**

पहला अधिकार पीठबंध है, जिसमें मंगलाचरणोपरान्त पंचपरमेष्ठी का स्वरूप, मंगलाचरण का हेतु, ग्रन्थ की प्रामाणिकता, स्वयं की स्थिति, वक्ता, श्रोता व पढ़ने योग्य शास्त्रों का स्वरूप आदि विषयों पर प्रकाश डाला गया है।

दूसरे अधिकार में कर्मोदय के निमित्तपूर्वक अनादिकाल से इस जीव की दशा कैसी हो रही है और **तीसरे अधिकार** में पंचेन्द्रिय विषयों की पराधीनता से इसने कैसे-कैसे दुःख उठाये हैं ह्न यह बताने के उपरान्त सच्चे सुख का स्वरूप समझाया गया है।

चौथे अधिकार में अगृहीत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्या-चारित्र का स्वरूप समझाया गया है और **पाँचवें से सातवें अधिकार** तक गृहीत मिथ्यादर्शन, गृहीत मिथ्याज्ञान और गृहीत मिथ्याचारित्र का निरूपण है।

गृहीत मिथ्यात्व के सन्दर्भ में पाँचवे अधिकार में जैनेतर मत की समीक्षा, **छठवें अधिकार** में व्यंतरादि देवी-दहाड़ी आदि के पूज्यत्व की समीक्षा और **सातवें अधिकार** में निश्चयाभासी, व्यवहाराभासी, उभया-भासी और सम्यक्त्व के सन्मुख मिथ्यादृष्टियों की समीक्षा की गई है।

इसके बाद **आठवें अधिकार** में उपदेश के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। सम्पूर्ण जिनागम चार भागों में विभक्त किया गया है ह्न प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग।

वस्तुस्वरूप के प्रतिपादन के लिये प्रत्येक अनुयोग की अपनी अलग शैली है। शैली को समझे बिना वस्तुस्वरूप समझना संभव नहीं है; इसलिये इस अधिकार में चारों अनुयोगों की शैलियों को विस्तार से समझाया गया।

नौवें अधिकार में सम्यग्दर्शन का स्वरूप समझाना आरंभ ही किया था कि वे षड्यंत्र के शिकार हो गये और **हम सबके दुर्भाग्य से वह नौवाँ अधिकार भी अधूरा ही रह गया।**

वे ग्रंथ का आरंभ निम्नलिखित मंगलाचरण से करते हैं ह्न

(मंगलाचरण)

मंगलमय मंगलकरण, वीतराग-विज्ञान।
नमौं ताहि जातैं भये, अरहंतादि महान।।१।।
करि मंगल करिहौं महा, ग्रंथकरन को काज।
जातैं मिलै समाज सब, पावै निजपद राज।।२।।

मैं मंगलस्वरूप और मंगल करनेवाले उस वीतराग-विज्ञान को नमस्कार करता हूँ, जिसके आश्रय से अरहंतादि पंचपरमेष्ठी महान बने हैं।

मंगलाचरण करने के उपरान्त अब मैं इस मोक्षमार्गप्रकाशक नामक महाग्रंथ की रचना करने का काम आरंभ करता हूँ, इसके फलस्वरूप मुझे अनन्तगुणों का अपना समाज और निजपद का राज प्राप्त होगा।

देखो, पण्डितजी किसी भी प्रकार की लौकिक कामना न करते हुये **निजगुणरूपी समाज और निजपदरूपी राज की भावना भाते हैं।**

मंगलाचरणोपरान्त ग्रंथ करने संबंधी प्रतिज्ञा वाक्य में वे अपने इस ग्रंथ को महाग्रंथ कहते हैं, जिससे समझा जा सकता है कि उनके चित्त में साधारण ग्रन्थ नहीं, अपितु एक महान ग्रंथ लिखने का संकल्प था।

पंचाध्यायीकार ने भी अपने ग्रंथ को ग्रन्थराज कहा है और उसका

नाम पंचाध्यायी रखा। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि वे पाँच अध्याय लिखना चाहते थे; पर दूसरा अध्याय भी पूरा न हो सका और वे चल दिये।

इसप्रकार हम देखते हैं कि ग्रंथराज पंचाध्यायी और महाग्रंथ मोक्षमार्गप्रकाशक ह्न दोनों ही अधूरे रह गये हैं।

लगता है कि पण्डित टोडरमलजी के चित्त में पहले से ही आशंका हो गई थी कि शायद यह ग्रंथ पूरा न हो पाये। मंगलाचरण करने के कारणों की मीमांसा करते हुये उन्होंने ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति की मीमांसा पर बहुत जोर दिया है, प्रश्नोत्तरों के माध्यम से अपनी बात को स्पष्ट किया है।

वे लिखते हैं ह्न **आयु का भरोसा नहीं है**। ४०-४५ वर्ष के महापुरुषों के ऐसे कथन कुछ विशिष्ट सूचना देते हैं। ऐसी बातें साठ-सत्तर वर्ष के लोग करते हैं; पर उस समय के वातावरण को देखकर मानों उन्हें अकाल मृत्यु का आभास हो गया था। **जिसप्रकार उन्होंने जैन-जैनेतर मतों की समीक्षा की है, शिथिलाचार का विरोध किया है, धर्म के नाम पर चलने वाले पाखण्डों की पोल खोली है; उससे वे शिथिलाचारियों के लिये एक बहुत बड़ा खतरा बन गये थे।**

चारों ओर के वातावरण को देखकर उन्हें कुछ-कुछ आभास हो गया होगा कि किसी भी दिन कुछ भी अघटित घटित हो सकता है। आखिर, उनकी यह आशंका सत्य साबित हुई और वे ४७ वर्ष की अल्पायु में विरोधियों के षड्यंत्र के शिकार हो गये।

जरा, गंभीरता से विचार करो कि उन्होंने यह अनुपम कृति हमें किस कीमत पर दी है, उन्होंने इसे जान की बाजी लगाकर लिखा है।

जैनदर्शन में सर्वश्रेष्ठ मंत्र णमोकार महामंत्र माना जाता है। इस णमोकार महामंत्र में सभी अरहंतों, सिद्धों, आचार्यों, उपाध्यायों और साधुओं को नमस्कार किया गया है।

अतः उन्होंने ग्रंथ के आरंभ में ही उक्त मंत्र का स्मरण करते हुये पंचपरमेष्ठियों के स्वरूप पर विस्तार से प्रकाश डाला है।

एक बात विशेष ध्यान देने योग्य यह है कि उन्होंने णमोकार महामंत्र के माध्यम से पंचपरमेष्ठियों को नमस्कार करने के पहिले वीतराग-विज्ञान को नमस्कार करना उचित समझा; क्योंकि वीतराग-विज्ञान के आश्रय से ही हम-तुम जैसे साधारण जीव भी पंचपरमेष्ठी पद प्राप्त कर लेते हैं। यह बात मैं नहीं कह रहा हूँ, अपितु उन्होंने स्वयं ही लिखा है कि ह्न

नमौं ताहि जातैं भये अरहंतादि महान।

पंचपरमेष्ठियों का स्वरूप स्पष्ट करते हुये उन्होंने परम्परागत पद्धति को नहीं अपनाया; अपितु जहाँ हम सब खड़े हैं, वहाँ से आरंभ कर अरहंत दशा तक ले गये हैं।

अरहंत का स्वरूप समझाते हुये वे लिखते हैं ह्न ''जो गृहस्थपना त्याग कर, मुनिधर्म अंगीकार कर, निजस्वभावसाधन द्वारा, चार घातिकर्मों का क्षय करके अनंतचतुष्टयरूप विराजमान हुए...... ; वे अरहंत देव हैं।''

उक्त विवेचन में **गृहस्थपना** और **मुनिपना** शब्दों को भाववाची बनाया गया है। तात्पर्य यह है कि मात्र घर छोड़कर नग्न दिगम्बरदशा धारण करने से कुछ होनेवाला नहीं है; **गृहस्थपना त्यागना होगा और मुनिपना धारण करना होगा।** बाह्य क्रियाकाण्ड से काम नहीं चलेगा, अंतरंग भावों की पहिचान आवश्यक है।

साधन की चर्चा करते हुये भी **निजस्वभाव साधन द्वारा** लिखकर यह स्पष्ट किया गया है कि बाह्य शारीरिक क्रियाकाण्ड एवं शुभभावों से घातियाकर्मों का अभाव और अनन्तचतुष्टय की प्राप्ति नहीं होती, अपितु निजस्वभावसाधन द्वारा अर्थात् शुद्धोपयोग से होती है।

यद्यपि अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य ह्न इन अनन्तचतुष्टयों की प्राप्ति के लिये नग्नदिगम्बर दशा अनिवार्य है; तथापि मात्र नग्नदिगम्बर हो जाने से कुछ नहीं होगा; साथ ही शुद्धोपयोग की साधना अनिवार्य है।

जिस विधि से उन्होंने अरहन्त भगवान के स्वरूप पर प्रकाश डाला है; उसी विधि से सिद्धों के स्वरूप पर भी प्रकाश डाला है।

साधु तो साधु हैं ही, आचार्य और उपाध्याय भी तो साधु ही हैं। अतः उन्होंने पहले साधुओं का सामान्य स्वरूप बताया; उसके बाद आचार्य और उपाध्यायों की चर्चा करते समय उनकी विशिष्ट विशेषताओं को अलग से बता दिया। आचार्य और उपाध्यायों में साधु संबंधी सभी गुण तो होना ही चाहिये। इसके अतिरिक्त संघ का अनुशासन–प्रशासन करनेवाले आचार्य और पठन–पाठन करानेवाले उपाध्याय होते हैं।

पंच परमेष्ठियों का स्वरूप स्पष्ट करने के उपरान्त ग्रन्थ की प्रामाणिकता पर सयुक्ति प्रकाश डाला गया है।

वीतरागी सर्वज्ञ भगवान महावीर की वाणी; जो परम्परागतरूप से आज भी उपलब्ध है; यह मोक्षमार्गप्रकाशक शास्त्र उसी के अनुसार लिखा गया है; अतः इसकी प्रामाणिकता में संदेह के लिए कोई स्थान नहीं है।

इस पर यदि कोई कहे कि भगवान महावीर तो वीतरागी सर्वज्ञ थे; उनके बाद आजतक चली आई परम्परा में आनेवाले लेखक और प्रवक्ता ह्न सभी तो वीतरागी–सर्वज्ञ नहीं थे। इतनी लम्बी परम्परा में किसी ने बीच में कुछ मिलावट कर दी हो, कुछ घालमेल कर दिया हो तो....।

उक्त आशंका का निवारण करते हुये पण्डितजी कहते हैं कि ज्ञानीजन उसको चलने नहीं देते। पण्डितजी के उक्त कथन में ज्ञानी धर्मात्मा विद्वानों में कितना बड़ा विश्वास व्यक्त किया गया है। न केवल विश्वास व्यक्त किया, अपितु उनके कन्धों पर जिनवाणी को शुद्ध एवं पूर्ण प्रामाणिक रखने का भार भी डाल दिया है। **तात्पर्य यह है कि यदि जैनदर्शन के नाम पर जैनसिद्धान्तों के विरुद्ध कोई बात चल रही हो तो ज्ञानी विद्वानों को दृढ़तापूर्वक उसका निषेध कर देना चाहिये।**

इसके बाद में जानने–सुनने योग्य शास्त्र, ज्ञानी वक्ता और तत्त्वजिज्ञासु श्रोताओं के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है।

बांचने–सुनने योग्य शास्त्रों की चर्चा करते समय वे किन्हीं ग्रन्थ

विशेषों का नाम नहीं गिनाते; अपितु कहते हैं कि जो शास्त्र मोक्षमार्ग का प्रकाश करें, जिनमें मोह-राग-द्वेषभावों का निषेध करके वीतराग -भाव का पोषण किया गया हो; वे शास्त्र ही बाँचने-सुनने योग्य हैं।

जिनमें शृंगार–भोग–कुतूहलादि का पोषण करके रागभाव का, हिंसा–युद्धादि का पोषण करके द्वेषभाव का और अतत्त्व श्रद्धान का पोषण करके मोहभाव (मिथ्यात्व) का पोषण किया गया हो; वे शास्त्र नहीं, शस्त्र (हथियार) हैं, उनका बाँचना–सुनना योग्य नहीं है।

इसीप्रकार वक्ता का स्वरूप स्पष्ट करते हुये जिन बातों पर वे सर्वाधिक वजन देते हैं; उनमें से कुछ इसप्रकार हैं ह्न **जिनवाणी का प्रवक्ता जैनतत्त्व–ज्ञान के प्रति अटूट आस्था रखनेवाला दृढ़ श्रद्धानी, बुद्धिवान, व्यवहार–निश्चयादि नयों का स्वरूप जाननेवाला, जिनाज्ञा के भंग होने के भय से भयभीत, मंदकषायी, स्वयं प्रश्न उठाकर उत्तर देनेवाला और अध्यात्मरस का रसिया होना चाहिये।**

वक्ता का स्वरूप समझाने के लिये उन्होंने आत्मानुशासन का एक छन्द प्रस्तुत किया है, जो इसप्रकार है ह्न

प्राज्ञः प्राप्तसमस्तशास्त्रहृदयः प्रव्यक्तलोकस्थितिः,
प्रास्ताशः प्रतिभापरः प्रशमवान् प्रागेव दृष्टोत्तरः।
प्रायः प्रश्नसहः प्रभुः परमनोहारी परानिन्दया,
ब्रूयाद्धर्मकथां गणी गुणनिधिः प्रस्पष्टमिष्टाक्षरः।।५।।

जो बुद्धिमान हो, जिसने समस्त शास्त्रों का रहस्य प्राप्त किया हो, लोक मर्यादा जिसके प्रगट हुई हो, आशा जिसके अस्त हो गई हो, जो कांतिमान हो, उपशमी हो, प्रश्न करने से पहले ही जिसने उत्तर देखा हो, बाहुल्यता से प्रश्नों को सहनेवाला हो, प्रभु हो, पर की तथा पर के द्वारा अपनी निन्दा रहितपने से पर के मन को हरनेवाला हो, गुणनिधान हो, स्पष्ट और मिष्ट जिसके वचन हों ह्न ऐसा सभा का नायक धर्मकथा कहे।

वक्ता का विशेष लक्षण ऐसा है कि यदि उसके व्याकरण–न्यायादिक

तथा बड़े-बड़े जैन शास्त्रों का विशेष ज्ञान हो तो विशेषरूप से उसको वक्तापना शोभित हो। ऐसा भी हो; परन्तु अध्यात्मरस द्वारा यथार्थ अपने स्वरूप का अनुभव जिसको न हुआ हो वह जिनधर्म का मर्म नहीं जानता, पद्धति ही से वक्ता होता है, अध्यात्मरसमय सच्चे जिनधर्म का स्वरूप उसके द्वारा कैसे प्रगट किया जाये? इसलिये **आत्मज्ञानी हो तो सच्चा वक्तापना होता है, क्योंकि प्रवचनसार में ऐसा कहा है कि ह्न आगमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान, संयमभाव ह्न यह तीनों आत्मज्ञान से शून्य कार्यकारी नहीं है।**

उक्त कथन में दो बातें विशेष ध्यान देने योग्य हैं ह्न पहली तो वह प्रश्नसह अर्थात् प्रश्नों को सहन करनेवाला होना चाहिये; क्योंकि श्रोता तो अपेक्षाकृत कम योग्यतावाले होते हैं; अतः वे कुछ भी प्रश्न कर सकते हैं, चुभनेवाला प्रश्न भी कर सकते हैं ह्न ऐसी स्थिति में वक्ता को उत्तेजित नहीं होना चाहिये।

दूसरा है ह्न **प्रागैव दृष्टोत्तरः** अर्थात् वक्ता ऐसा होना चाहिये कि जिसने श्रोताओं द्वारा पूँछे जानेवाले प्रश्नों का उत्तर पहले से ही शास्त्रों में देखा हो। यदि ऐसा नहीं हुआ तो उसे बार-बार ऐसा कहना होगा कि देखकर बताऊँगा; जो उसकी प्रतिष्ठा को कम करेगा। एकाध बात में तो ऐसी बात चल सकती है; पर हर प्रश्न के उत्तर में यह कहना कि देखकर बताऊँगा, उसे हँसी का पात्र बना देगा।

वक्ता के लिये एक बात ऐसी भी कही है कि वक्ता सुन्दर होना चाहिये। आप कह सकते हैं कि वक्ता की सुन्दरता से श्रोताओं का क्या लेना-देना?

पर भाई साहब! बात यह है कि जिसप्रकार टी.वी. के समाचार सुनानेवाले और विमान परिचारिकायें सुन्दर हों तो लोगों को आकर्षित करते हैं; उसीप्रकार सुन्दर वक्ता भी श्रोताओं को आकर्षित करता है, प्रभावित करता है।

श्रोताओं की चर्चा करते हुये वे कहते हैं कि भली होनहार और जिनवाणी को आत्महित की भावना से अति प्रीतिपूर्वक सुननेवाले श्रोता

धर्म के प्रति गाढ़ श्रद्धानी और विनयवान होना चाहिये। वैसे तो तीर्थंकरों की सभा में गणधरदेव भी श्रोता के रूप में ही उपस्थित रहते हैं।

वक्ता की बात चली तो पंडितजी ने तीर्थंकरों को सर्वश्रेष्ठ वक्ता बताया और जब श्रोताओं की बात चली तो गणधरदेव को सर्वश्रेष्ठ श्रोता बताया।

यह तो आप जानते ही हैं कि जब तीर्थंकर भगवान महावीर की दिव्यध्वनि खिरी तो ४ ज्ञान के धारी गौतमगणधर की श्रोता के रूप में तीस वर्ष तक प्रतिदिन ७ घंटे और १२ मिनट अनवरत उपस्थिति रही।

कहाँ हैं आज ऐसे श्रोता, जो निरन्तर समय पर उपस्थित रहते हों।

अधिकार के अन्त में पण्डित टोडरमलजी उन श्रोताओं के प्रति, जो जिनवाणी श्रवण के सहज संयोग मिलने पर भी उपेक्षा करते हैं, रुचिपूर्वक जिनवाणी श्रवण नहीं करते, कहते हैं ह्न

''जिसप्रकार बड़े दरिद्री को अवलोकनमात्र चिन्तामणि की प्राप्ति हो और वह अवलोकन न करे, तथा जिसप्रकार कोढ़ी को अमृतपान कराये और वह न करे; उसीप्रकार संसार पीड़ित जीव को सुगम मोक्षमार्ग के उपदेश का निमित्त बने और वह अभ्यास न करे तो उसके अभाग्य की महिमा हमसे तो नहीं हो सकती। उसकी होनहार ही का विचार करने पर अपने को समता आती है। कहा है कि ह्न

साहीणो गुरुजोगे जे ण सुणंतीह धम्मवयणाइ।
ते धिट्ठदुट्ठचित्ता अह सुहडा भवभयविहूणा।।

स्वाधीन उपदेशदाता गुरु का योग मिलने पर भी जो जीव धर्मवचनों को नहीं सुनते; वे धीठ हैं और उनका चित्त दुष्ट है। अथवा जिस संसारभय से तीर्थंकरादि डरे; वे उस संसारभय से रहित हैं, वे बड़े सुभट हैं।''

एक बात उन्होंने वक्ता और श्रोता ह्न दोनों के लिये समानरूप से कही है कि वक्ता और श्रोता ह्न दोनों को शास्त्र सुनने और सुनाने का काम लौकिक प्रयोजन की सिद्धि के लिये नहीं; अपितु विशुद्ध आत्मकल्याण और वीतरागी तत्त्वज्ञान के प्रचार-प्रसार की भावना से करना चाहिये।

अधिकार के अन्त में हितकारी सलाह और आशीर्वाद और देते हुये वे लिखते हैं ह्न

''धर्म के अनेक अंग हैं, उनमें एक ध्यान बिना उससे (जिनागम के स्वाध्याय से) ऊँचा और कोई धर्म का अंग नहीं है; इसलिये जिस-तिस प्रकार आगम-अभ्यास करना योग्य है।

इस ग्रन्थ का तो बाँचना, सुनना, विचारना बहुत सुगम है ह्न कोई व्याकरणादिक का भी साधन नहीं चाहिये; इसलिये अवश्य इसके अभ्यास में प्रवर्तो। तुम्हारा कल्याण होगा।''

इसप्रकार हम देखते हैं कि पण्डित टोडरमलजी ने वक्ता, श्रोता और सुनने-पढ़ने योग्य शास्त्रों पर पर्याप्त प्रकाश डाला है।

इसप्रकार प्रथम अधिकार समाप्त होता है। •

आत्मा का ध्यान करने के लिए उसे जानना आवश्यक है। इसीप्रकार अपने आत्मा के दर्शन के लिए भी आत्मा का जानना आवश्यक है। इसप्रकार आत्मध्यानरूप चारित्र के लिए तथा आत्मदर्शनरूप सम्यग्दर्शन के लिए आत्मा का जानना जरूरी है तथा आत्मज्ञानरूप सम्यग्ज्ञान के लिए तो आत्मा का जानना आवश्यक है ही। **अन्ततः यही निष्कर्ष निकला कि धर्म की साधना के लिए एकमात्र निज भगवान आत्मा का जानना ही सार्थक है।**

सुनकर नहीं, पढ़कर नहीं; आत्मा को प्रत्यक्ष अनुभूतिपूर्वक साक्षात् जानना ही आत्मज्ञान है और इसीप्रकार जानते रहना ही आत्मध्यान है। इसप्रकार का आत्मज्ञान सम्यग्ज्ञान है और इसीप्रकार का आत्मध्यान सम्यक्चारित्र है। जब ऐसा आत्मज्ञान और आत्मध्यान होता है तो उसी समय आत्मप्रतीति भी सहज हो जाती है, आत्मा में अपनापन भी सहज आ जाता है, अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन भी उसी समय होता है; सबकुछ एकसाथ ही उत्पन्न होता है और सबका मिलाकर एक नाम आत्मानुभूति है।

ह्न आत्मा ही है शरण, पृष्ठ-२२१

दूसरा प्रवचन

मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रन्थ पर चर्चा चल रही है। कल के प्रवचन में प्रथम अधिकार की विषयवस्तु पर प्रकाश डालते हुये कहा था कि यह ग्रंथ मोक्ष के मार्ग पर प्रकाश डालनेवाला ग्रन्थ है। अब दूसरे अधिकार को **'अब इस शास्त्र में मोक्षमार्ग का प्रकाश करते हैं'**, ह्न इस वाक्य से ही आरंभ करते हैं। इससे प्रतीत होता है कि **मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रन्थ के नाम की सार्थकता उनके हृदय की अथाह गहराई में अंकित थी।**

मोक्ष के मार्ग का निर्माण तो तीर्थंकर भी नहीं करते हैं, मार्ग तो स्वयं निर्मित ही है; अतः उसके निर्माण की आवश्यकता भी नहीं है, पर मुक्ति का मार्ग अज्ञानांधकार से आच्छादित है; इसलिए उस पर सम्यग्ज्ञानरूपी प्रकाश डालने की आवश्यकता अवश्य है। यही कारण है कि **यहाँ मुक्ति के मार्ग पर प्रकाश डाला जा रहा है।**

दूसरे अधिकार के आरंभ में ही वे इस बात पर जोर देते हैं कि **वही उपदेश सार्थक हैं, जो मोक्ष के मार्ग पर प्रकाश डाले। तीर्थंकर भगवान भी ऐसा ही उपदेश देते हैं।** समवसरण में बैठकर वे दुनियादारी की बातें नहीं सिखाते। सास-बहु को प्रेम से रहना चाहिए ह्न ऐसी बातें करके वे राग करने का उपदेश नहीं देते। वे तो मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र का अभाव कैसे हो, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति कैसे हो; ह्न यह समझाते हैं।

पण्डित टोडरमलजी मनोविज्ञान के बहुत बड़े ज्ञाता थे। उन्होंने मोक्ष के मार्ग पर प्रकाश डालने के लिए परंपरागत रास्ते को नहीं अपनाया।

महाशास्त्र तत्त्वार्थसूत्र के **'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः'** इस प्रथम सूत्र में ही आचार्य उमास्वामी ने मोक्षमार्ग की चर्चा आरम्भ कर दी और संसार के दुःखों का वर्णन तीसरे अध्याय में किया; परन्तु पण्डित टोडरमलजी मोक्षमार्ग का प्रकरण नौवें अधिकार से प्रारंभ करते हैं और संसार के दुःखों की चर्चा ग्रन्थ के आरंभ में ही करते हैं।

वे अपनी इस शैली की सार्थकता सिद्ध करते हुये अनेक तर्क देते हैं, उदाहरण देते हैं। वे वैद्य के उदाहरण से अपनी बात को स्पष्ट करते हैं। उनका यह उदाहरण दूसरे अधिकार से पाँचवे अधिकार तक चलता है।

वे लिखते हैं कि जब कोई रोगी वैद्य के पास आता है तो सर्वप्रथम वैद्य उसे रोग का स्वरूप समझाता है, उसकी दुखरूपता समझाता है, उसका कारण बताता है; उसके बाद रोग से मुक्ति का उपाय बताता है। इसीप्रकार पण्डितजी सर्वप्रथम इस संसारी जीव की वर्तमान में जो अवस्था है, वह दुःखरूप है ह्न इसका ज्ञान करायेंगे। उसके बाद उसके होने के कारणों पर प्रकाश डालेंगे; तत्पश्चात् उससे बचने का उपाय बतायेंगे।

रोगी को उसकी तकलीफें बताने के बाद वैद्य यह बताता है कि तुमने क्या-क्या बदपरहेजी की है, जिसके कारण तुम्हें इतनी तकलीफ उठानी पड़ रही है। इसीप्रकार **पण्डितजी संसार दुःखों का स्वरूप बताने के बाद यह बताते हैं कि तुमने मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र का सेवन किया है; इसकारण तुझे ये अनन्त दुःख उठाने पड़ रहे हैं।**

यदि इन मिथ्यात्वादि से बचना चाहते हो, छूटना चाहते हो तो पहले इन मिथ्यात्वादि का स्वरूप गहराई से समझना होगा।

पण्डित टोडरमलजी अपनी इस कृति को शास्त्र कहते हैं।

जो लोग ऐसा कहते हैं कि शास्त्र तो आचार्य लिखते हैं, पण्डित लोग तो पुस्तकें लिखते हैं, किताबें लिखते हैं। इसप्रकार वे शास्त्र और पुस्तकों में भेद डालते हैं। जो भी हो, पर पण्डित टोडरमलजी अपने इस ग्रन्थ को शास्त्र मानते हैं। उनका मानना है कि यह शास्त्र इसलिए महान नहीं है कि इसे मैंने लिखा है, अपितु इसलिए महान है कि इसमें मोक्ष के मार्ग पर प्रकाश डाला गया है। इसमें वही बात कही गई है, जो गणधरदेव की उपस्थिति में, सौ इन्द्रों की उपस्थिति में तीर्थंकर परमात्मा ने बताई थी, उनकी दिव्यध्वनि में आई थी।

कोई ग्रन्थ महान शास्त्र है या साधारण पुस्तक ह्न इसका निर्णय उसमें

प्रतिपादित विषयवस्तु के आधार पर होता है, न कि किसी व्यक्ति विशेष के आधार पर। **मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रंथ भी अपनी विषयवस्तु के कारण शास्त्र है, महाशास्त्र है; क्योंकि इसमें आगम के आलोक में, तर्क की कसौटी पर कस कर, स्वानुभव से प्रकाशित करके उसी मोक्ष के मार्ग पर प्रकाश डाला गया है; जिसकी कामना प्रत्येक आत्मार्थी को होती है।**

पूज्य गुरुदेवश्री कानजी स्वामी के सान्निध्य में रहनेवाले पण्डित श्री खीमचन्दभाई का एक पत्र मुझे प्राप्त हुआ, उसमें लिखा था कि आपने 'क्रमबद्धपर्याय' नामक शास्त्र लिखकर इतना महान कार्य किया है कि दुनियाँ आपको युगों तक याद रखेगी।

जब मैंने यह लिखा कि आप मेरी पुस्तक को शास्त्र कहते हैं तो उनका उत्तर आया कि यह कृति इसलिए महान नहीं कि इसे आपने लिखा है, अपितु इसलिए महान है कि इसमें जैनदर्शन के एक महान सिद्धान्त का आगमानुसार सयुक्ति प्रतिपादन हुआ है। अत: यह शास्त्र नहीं, महान शास्त्र है।

वस्तुत: बात तो यह है कि चाहे कुन्दकुन्दादि आचार्यों द्वारा लिखा गया हो, चाहे पण्डित टोडरमलजी आदि विद्वानों द्वारा लिखा गया हो; पर वह सभी साहित्य शास्त्र हैं कि जिसमें आगमानुसार युक्तिसंगत परम सत्य का प्रतिपादन हो और वीतरागता का पोषण किया गया हो।

कुछ लोग भाषा के संदर्भ में भी इसीप्रकार का आग्रह रखते हैं। वे कहते हैं कि शास्त्र तो प्राकृत-संस्कृत में लिखे जाते हैं; पर यह मोक्षमार्गप्रकाशक तो लोक भाषा हिन्दी में लिखा गया है।

अरे भाई ! भाषा तो युग के अनुसार बदलती रहती है। भगवान की दिव्यध्वनि भी तो अठारह महा भाषाओं और सात सौ लघु भाषाओं में प्रस्फुटित हुई थी। उक्त दिव्यध्वनि में समागत तत्त्व को एक-दो भाषाओं में कैसे बांधा जा सकता है ?

पण्डित टोडरमलजी ने हिन्दी भाषा में इसलिए लिखा कि वे सर्वज्ञ

कथित वीतराग-विज्ञान को अधिकतम लोगों के पास पहुँचाना चाहते थे। यदि तुम्हारे चित्त में यह विकल्प रहा कि यह ग्रंथ तो पण्डित का लिखा है, हिन्दी भाषा में है तो तुम इस ग्रंथ से लाभ नहीं उठा सकते; इसलिए इसप्रकार के विकल्पों को छोड़कर तुम इस ग्रंथ का सूक्ष्मता से अध्ययन करो।

एक बात यह भी तो है कि यदि तुम प्राकृत-संस्कृत नहीं जानते हो तो फिर तुम्हें प्राकृत-संस्कृत के ग्रन्थों का स्वाध्याय करने के लिए किसी न किसी पण्डित का ही सहारा लेना पड़ेगा, उसके द्वारा किये गये अनुवाद का ही सहारा लेना होगा।

यदि स्वयं के स्वाध्याय से कोई बात स्पष्ट नहीं होती तो भी उसे किसी विद्वान से समझना होगा; क्योंकि आचार्यों की उपलब्धि तो सर्वत्र सदा संभव नहीं है। अत: व्यर्थ के विकल्पों से विराम लेकर इस अत्यन्त उपयोगी ग्रंथराज का श्रद्धा के साथ स्वाध्याय करो, तुम्हारा कल्याण अवश्य होगा।

चिकित्सा आरंभ करने के पूर्व बीमारी का निदान करना आवश्यक होता है। निदान के बिना लाभ के स्थान पर हानि भी हो सकती है। यही कारण है कि इस मोक्षमार्गप्रकाशक शास्त्र में सर्वप्रथम कर्मबंधन का निदान करते हैं। उक्त संदर्भ में वे द्रव्य कर्मों का बंधन और मोह-राग-द्वेष रूप भावकर्मों का अनादिपना सिद्ध करते हैं।

तात्पर्य यह है कि मोह-राग-द्वेष की बीमारी इस जीव को अनादि से है, कर्मबंधन भी अनादि से ही है। इसकारण सांसारिक सुख-दु:ख भी अनादि से ही हैं। **सांसारिक सुख भी दु:ख ही है; अत: यह जीव अनादि से ही इस मोह-राग-द्वेष बीमारी के कारण दु:ख भोग रहा है।**

सोने का उदाहरण देते हुए वे कहते हैं कि जिसप्रकार सोना खदान में अनादि से अशुद्ध पड़ा है; उसीप्रकार यह आत्मा भी निगोद में अनादि से अशुद्ध पड़ा रहा। इसप्रकार उन्होंने यहाँ कर्मरोग का अनादिपना सिद्ध किया है।

यद्यपि यह बात सत्य है कि किसी महिला को देखकर किसी को

विकार उत्पन्न हो सकता है, पर प्रत्येक व्यक्ति को नहीं होता; अपितु उन्हीं को होता है, जिनके हृदय में पहले से ही विकार विद्यमान है, उन्हें नहीं जिनका चित्त विकार से रहित है। तात्पर्य यह है कि विकार तो अपनी पर्यायगत योग्यता के कारण स्वयं से होता है; कर्मोदय या बाह्य पदार्थ तो निमित्तमात्र है।

प्रश्न : मोह-राग-द्वेष से कर्मबंधन और कर्मोदय से मोह-राग-द्वेष का होना ह्न इसमें तो इतरेतराश्रय दोष है; क्योंकि द्रव्यकर्मों से भावकर्म और भावकर्मों से द्रव्यकर्म ह्न इसप्रकार परस्पर एक दूसरे के आश्रय से होने को ही तो इतरेतराश्रय दोष कहते हैं ?

उत्तर : नहीं, इसमें इतरेतराश्रय दोष नहीं है; क्योंकि जिन द्रव्यकर्मों के उदय से जो भावकर्म होते हैं, उन द्रव्यकर्मों से वे द्रव्यकर्म भिन्न हैं, जो इन भावकर्मों से बंधनेवाले हैं।

प्रश्न : यह तो समस्या को पीछे धकेलना हुआ, समस्या का समाधान नहीं? क्योंकि जो मोह-राग-द्वेषरूप भावकर्म अभी हैं, उनका निमित्त पुराने द्रव्यकर्मों का उदय है और वे पुराने द्रव्यकर्म उनसे भी पुराने मोह-राग-द्वेषरूप भावकर्मों के निमित्त से बंधे थे। इसप्रकार तो कभी अंत ही नहीं आवेगा। आखिर कहाँ तक जायेंगे पीछे-पीछे?

उत्तर : अनादि काल तक।

प्रश्न : पहले कौन था ? द्रव्यकर्मों का बंधन या मोह-राग-द्वेषरूप भावकर्म ?

उत्तर : इसका उत्तर तो यही है कि दोनों ही अनादि से हैं। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक जीव अनादिकाल से ही द्रव्यकर्मों के उदयपूर्वक भावकर्मरूप परिणमित हो रहा है। इसप्रकार यह सुनिश्चित है कि द्रव्यकर्म और भावकर्म की परम्परा अनादि से है।

गोम्मटसार में एक गाथा आती है, जिसमें कहा गया है कि ह्न

'जोगा पयडि पदेसा ठिदि अणुभागा कसायदो होंति।'

ह्न योग से प्रकृति और प्रदेश बंध होते हैं और कषाय से स्थिति और अनुभाग बंध होते हैं; किन्तु महाशास्त्र तत्त्वार्थसूत्र में यह कहा गया है कि ह्न **'मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगा: बंधहेतव:।'** ह्न मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग – ये पाँच भावबंध के कारण हैं। अत: यह प्रश्न उपस्थित होता है कि आचार्यों में यह मतभेद क्यों?

महापण्डित टोडरमलजी के ध्यान में यह बात आयी थी और बिना किसी विवाद के उन्होंने बड़ी ही सरलता से उक्त शंका का समाधान कर दिया। वे लिखते हैं ह्न

मोह के उदय से जो मिथ्यात्व और क्रोधादि भाव होते हैं, उन सबका नाम सामान्यत: कषाय है। उनसे उन कर्मप्रकृतियों की स्थिति बंधती है।[1] तथा उस कषाय द्वारा ही उन कर्म प्रकृतियों में अनुभाग शक्ति का विशेष होता है।[2]

ध्यान रहे यहाँ मिथ्यात्व क्रोधादि में मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय लेना चाहिये। उक्त चारों का नाम सामान्यत: कषाय है।

आगे चलकर वे स्वयं कषाय शब्द का प्रयोग उक्त चारों के अर्थ में करते हैं। तात्पर्य यह है कि जब वे यह लिखते हैं ह्न

'जिन्हें बंध नहीं करना हो, वे कषाय न करें।'[3]

तब उसका अर्थ यही होता है कि जिन्हें बंध नहीं करना हो; वे मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय नहीं करें।

एक बात यह भी तो है कि तत्त्वार्थसूत्र में बंध के मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ह्न ये पाँच कारण बताये हैं और गोम्मटसार में मात्र कषाय और योग ह्न इन दो को ही बंध का कारण बताया गया है। ऐसी स्थिति में तत्त्वार्थसूत्र में लिखित शेष तीन कारणों को कषाय और योग में ही गर्भित मानना होगा।

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ–२७
२. वही, पृष्ठ–२८ ३. वही, पृष्ठ–२८

योग में तो वे समाहित हो नहीं सकते। अत: उपायान्तर का अभाव होने से उन्हें कषाय में ही शामिल मानना होगा। अत: यह परमसत्य है कि **मिथ्यात्व से लेकर कषाय तक के सभी भाव गोम्मटसार के इस प्रकरण में कषाय शब्द में ही गर्भित किये गये हैं। कषाय है अंत में जिनके ऐसे मिथ्यात्वादि सभी भाव कषायभाव ही हैं।**

यहाँ कषाय शब्द अंतदीपक के रूप में प्रयोग में आया है।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि जब बंध कषाय और योग से होता है तो कषाय न करें ह्न अकेला यह क्यों लिखा है, योग की बात को क्यों छोड़ दिया।

अरे भाई! योग के अभाव के लिये तो अनन्तवीर्य और अतुल्य बल के धनी अरहंत भगवान भी कुछ नहीं करते। शास्त्रों में लिखा है कि अरहंत भगवान के आत्मप्रदेशों का कंपन हम-तुम से भी अधिक होता है। यथासमय सहज ही योगनिरोध होता है और अयोग केवली होकर वे मोक्ष में चले जाते हैं।

बंध के कारणरूप मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय व योग में सबसे पहले मिथ्यात्व का अभाव होता है; फिर क्रमशः अविरति, प्रमाद व कषायें जाती हैं और सबसे अंत में योग का अभाव होता है।

आज लोग उल्टी प्रक्रिया अपना रहे हैं। कहते हैं कि सबसे पहले हमें योगा के माध्यम से मन-वचन-काय को काबू में करना चाहिये और फिर कषायें छोड़ना चाहिये, कम करना चाहिये। उसके बाद प्रमाद से बचने की बात व अविरति का त्याग करने की बात की जाती है। मिथ्यात्व को छोड़ने की तो कोई बात ही नहीं करता है।

अरे भाई ! मिथ्यात्व के छूटे बिना अविरति, प्रमाद और कषायें नहीं छूटतीं, कम भी नहीं होती तथा योग तो १३वें गुणस्थान में केवली के भी होता है, यही कारण है उन्हें सयोग केवली कहा जाता है।

जिन योगों के अभाव के लिये केवली भी कुछ नहीं करते हम उन्हें

ठीक करने के प्रयास की बात करते हैं। जिन योगों के रहते हुए केवलज्ञान हो जाता है, अनन्तसुख हो जाता है; उन योगों ने तेरा क्या बिगाड़ा है? **जिस मिथ्यात्व को छोड़े बिना धर्म का आरंभ भी नहीं होता, रंचमात्र भी सुख-शांति नहीं मिलती; उस मिथ्यात्व को तो छोड़ने की तो बात नहीं करता। क्या हो गया है इस जगत को ?**

अरे भाई! मिथ्यात्व को छोड़े बिना चतुर्थ गुणस्थान नहीं होता, पर अविरति तो पाँचवें-छठवें गुणस्थान में जाती है। इसीप्रकार प्रमाद सातवें गुणस्थान में, कषाय ग्यारहवें/बारहवें गुणस्थान में और योग चौदहवें गुणस्थान में जाते हैं।

बंध के और उसके कारणों के अभाव का क्रम तो यह है, पर यह अज्ञानी जगत योग साधना के नाम पर मन-वचन-कायरूप जड़ का कर्त्ता बनता है। जबतक आत्मा जड़ का, पर का, पररूप जड़ का कर्त्ता-भोक्ता बनता रहेगा, तबतक तो मिथ्यात्व ही नहीं जावेगा, अन्य अविरति आदि की तो बात ही क्या करना।

बंध चार प्रकार का होता है ह्र प्रदेशबंध, प्रकृतिबंध, स्थितिबंध और अनुभाग बंध।

पौद्‌गलिक कार्माण वर्गणाओं का कर्मरूप परिणमित होकर आत्मप्रदेशों से एकक्षेत्रावगाहरूप से बंधना प्रदेशबंध है और कर्मस्कंधों का मतिज्ञानावरणादि कर्मप्रकृतियोंरूप से विभक्त होना प्रकृतिबंध है।

इन प्रदेश और प्रकृतिबंध में मन-वचन-कायरूप तीन योगों के निमित्त से होने वाला आत्मप्रदेशों का परिस्पन्द (हलन-चलन) निमित्त होता है।

भगवान आत्मा के साथ उक्त कर्मप्रकृतियों का संबंध कब तक रहेगा ह्र यह सुनिश्चित होना स्थितिबंध है और उन कर्मप्रकृतियों का रस परिपाक किस रूप में होगा ह्र यह सुनिश्चित होना अनुभागबंध है।

ये स्थिति और अनुभागबंध कषायों (मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय) से होते हैं। जब मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषायों

का पूर्णतः अभाव हो जाता है; तब केवली भगवान के १३वें गुणस्थान में योग से होनेवाले प्रकृति और प्रदेशबंध तो होते हैं, पर उन प्रकृति और प्रदेशों में मिथ्यात्वादि कषायभावों का अभाव होने से स्थिति और अनुभाग नहीं पड़ते, इसकारण वे कर्मपरमाणु अगले समय ही खिर जाते हैं; उनका कोई भी अच्छा-बुरा फल आत्मा को प्राप्त नहीं होता। अतः वह एकप्रकार से निरर्थक ही है। उक्त आस्रव को ईर्यापथ आस्रव कहते हैं और कषायों से होनेवाले आस्रव को संसार का बढ़ानेवाला होने से साम्प्रायिक आस्रव कहते हैं। इस साम्प्रायिक आस्रवपूर्वक होनेवाला बंध ही वास्तविक बंध है।

मिथ्यात्वादि भावों से बंधे कर्म अपनी स्थिति (काल की मर्यादा) के अनुसार सत्ता में रहते हैं और आबाधाकाल पूर्ण होने पर उदय में आना आरंभ होते हैं, और तबतक आते रहते हैं कि जबतक उनकी स्थिति पूर्ण नहीं हो जाती। उदय में आते हुये वे कर्म अपनी अनुभाग शक्ति के अनुसार संयोग और संयोगी भावों के रूप में फलते हैं।

कर्मों के बंध, उदय और सत्ता की चर्चा के उपरान्त अब यह स्पष्ट करते हैं कि **बंधते समय तो कोई कर्म फल निष्पन्न करते नहीं और सत्ता में पड़े कर्म पृथ्वी के ढेले के समान अकार्यकारी हैं; मात्र उदयकाल में ही वे निमित्तरूप से कार्यकारी होते हैं।**

उदयकाल में भी अघातिया कर्मों के मात्र संयोगों के रूप में फलने से वे आगामी कर्मबंधनों के कर्त्ता नहीं हैं, निमित्त भी नहीं हैं। उनकी संतति नहीं चलती, वे तो संयोगरूप फल में निमित्त होकर नष्ट हो जाते हैं।

इसीप्रकार घाति कर्मों में ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय का उदय और इनके उदय से होनेवाले आत्मा के औदयिकभाव बंध के कारण नहीं हैं।

इसप्रकार मोहनीय कर्म को छोड़कर शेष कर्मों का उदय और उनके निमित्त से होनेवाले संयोग और संयोगीभावरूप आत्मपरिणाम आगामी बंध के निमित्तकारण भी न होने से उदय में आकर खिर जानेवाले हैं।

एकमात्र मोहकर्म ही ऐसा कर्म है कि जिसके उदय के निमित्त में

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषायें होती हैं; इसकारण हमें जो भी पुरुषार्थ करना है, वह सब मोहकर्मोदय से होनेवाले भावों का अभाव करने के लिये करना है।

पण्डित श्री टोडरमलजी ने कर्मबंध संबंधी उक्त प्रकरण पर संक्षिप्त में प्रकाश डालकर लिखा है कि इसकी विस्तार से चर्चा आगे चलकर कर्माधिकार में करेंगे। इसका आशय यह है कि वे इस मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रंथ में कर्माधिकार के नाम से एक स्वतंत्र अधिकार लिखना चाहते थे।

यद्यपि यह बात परम सत्य है कि यदि यह ग्रंथ पूरा हो गया होता तो उसमें सबकुछ नहीं तो बहुत कुछ तो होता ही; पर जो कुछ अभी उपलब्ध है, वह भी कुछ कम नहीं है।

हम प्राप्त मोक्षमार्गप्रकाशक का तो स्वाध्याय करें नहीं और जो लिखा ही नहीं जा सका, उसके लिये, दुःख प्रकट करें ह्न यह तो वैसा ही है कि मरे पुत्र की बड़ी-बड़ी आँखें।

बुन्देलखण्ड में कहावत है कि लोग जो पुत्र जिन्दा है, उसकी तो सही ढंग से देखभाल करते नहीं; पर जो मर गया, उसके गीत गाते रहते हैं कि वह ऐसा था, वह वैसा था।

अतः हमारा तो यही अनुरोध है कि समय निकालकर इस उपलब्ध मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रंथ का स्वाध्याय गहराई से अवश्य करें।

दूसरे अधिकार की विषयवस्तु की चर्चा चल रही है, जिसमें अभी तक अनादि से होनेवाले कर्मबंधन एवं उनके उदय में होनेवाले शरीरादि नोकर्मों का संयोग और अज्ञानादि तथा मिथ्यात्वादिभावों से आगामी कर्मबंधन की चर्चा हुई। अब यह बताते हैं कि ज्ञानावरणादि कर्मों के उदय में इस जीव की क्या दुर्दशा होती है ?

यद्यपि यह भगवान आत्मा सर्वज्ञस्वभावी है, एक समय में लोकालोक के सभी पदार्थों को उनके गुण पर्यायों सहित देखे-जाने और प्रतिसमय देखता ही रहे, जानता ही रहे ह्न ऐसी शक्ति से सम्पन्न है;

तथापि ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मों के उदय के निमित्त से इस आत्मा की ऐसी स्थिति हो रही है कि यह जड़ पत्थर जैसा हो गया है।

यदि दर्शनावरण और ज्ञानावरण के अल्प क्षयोपशम से थोड़ा बहुत देखता-जानता है तो, उसमें पचासों शर्तें लगी रहती हैं। आँखों के बिना देख नहीं सकता, कानों के बिना सुन नहीं सकता; आँखें भी हों तो प्रकाश चाहिये। सभी शर्तें पूरी हो जावें, तो भी अकेले पुद्गल को देख-जान सकता है; वह भी सभी पुद्गलों को नहीं, उनके अनन्तवें भाग को, क्षेत्र-काल सम्बन्धी भी बहुत मर्यादायें हैं। समझ लीजिये एकेन्द्रियादि संसारी जीवों के दर्शन ज्ञान मात्र नाम के ही शेष रह गये हैं। निगोदिया जीवों के निरावरण होने से ज्ञान-दर्शन का मात्र स्वाभावांश ही रहता है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि ज्ञानावरण के उदय से जो अज्ञान और ज्ञानावरण के क्षयोपशम से जो ज्ञान है; ये दोनों ही आगामी कर्मों के बंधने में निमित्त नहीं है। औदयिक अज्ञान तो बंध का कारण है ही नहीं, पर जो क्षयोपशमिक ज्ञान है, वह भी स्वभाव का अंश होने से बंध का कारण नहीं है।

वस्तुतः बात यह है कि दर्शन-ज्ञान गुण और उनका परिणमन बंध का कारण नहीं है, बंध का कारण तो एकमात्र मोह के उदय में होने वाले मिथ्यात्वादि चार भाव ही हैं।

अरे भाई ! इस बात को हिन्दी भाषा में लिखी गई पण्डित की बात समझकर उड़ा मत देना, पूरी गंभीरता से समझना और स्वीकार करना। तेरा कल्याण अवश्य होगा।

इसीप्रकार अंतराय और अघातिया कर्मों के सन्दर्भ में भी समझ लेना चाहिये। दूसरे अधिकार में पण्डितजी ने प्रत्येक कर्म के उदय में होने वाली इस जीव की अवस्थाओं (दुर्दशाओं) का वर्णन विस्तार से किया, जो मूलतः पठनीय है। विस्तारभय से उक्त सभी की चर्चा करना यहाँ संभव नहीं है।

दर्शन मोहनीय अर्थात् मिथ्यात्व के उदय से यह जीव ज्ञानदर्शन-स्वभावी भगवान आत्मा को तो जानता नहीं, उसे अपना मानता नहीं, उसमें अपनापन स्थापित करता नहीं; और अघातिया कर्मों के उदय में प्राप्त होनेवाले शरीर, स्त्री, पुत्रादि, धन-मकानादि संयोगों में, नोकर्मों में अपनापन स्थापित करता है; इन्हें ही निजस्वरूप स्वीकार करता है। तथा चारित्र मोहनीय के उदय से उनमें ही इष्टानिष्ट बुद्धिपूर्वक जमता-रमता है; उन्हें ही अनुकूल-प्रतिकूल मानकर राग-द्वेष करता है, क्रोधादिरूप परिणमित हो रहा है।

ये मिथ्यात्व और कषायभाव ही मुख्यरूप से बंध के कारण हैं, इसलिये जिन्हें संसार दुःखों से बचना हो; वे मिथ्यात्व से बचें और कषायभाव न करें।

यद्यपि यह सत्य है कि मरीज को परहेज से रहना चाहिये, बदपरहेजी नहीं करना चाहिये; तथापि सही परहेज क्या है और बदपरहेजी क्या है? यह जानना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है; क्योंकि परहेज और बदपरहेज को जाने बिना परहेज करना और बदपरहेजी छोड़ना संभव नहीं है।

इसीप्रकार यद्यपि यह सत्य है कि भवरोग के रोगी को परहेज से रहना चाहिये, बदपरहेजी नहीं करना चाहिये; तथापि यह जानना बहुत जरूरी है कि भवरोग का परहेज क्या है और बदपरहेजी क्या है?

यह कहता है कि मुझे कर्मबंध हो रहा है; इसलिये मैंने मूंग की दाल खाना बंद कर दिया है। अरे भाई ! मूंग की दाल से कौन से कर्मों का बंध होता है, जो तूने मूंग की दाल खाना छोड़ दिया है।

कर्म तो मिथ्यात्व और कषायभावों से बंधते हैं; उन्हें छोड़ने की तो बात ही नहीं करता और धर्म के नाम पर बाहरी क्रियाकाण्डों में उलझ कर रह जाता है। अरे भाई ! परहेज मिथ्यात्वादिभावों से करना है और तू धर्म के नाम पर बाह्य क्रियाकाण्ड और शुभभावों में ही उलझ कर रह गया है।

अघातिया कर्मों के उदय में प्राप्त होनेवाले अनुकूल-प्रतिकूल संयोगों

को अज्ञानी जगत ने सुख-दुःख की सामग्री मान लिया है; परन्तु यह जीव दुःखी तो संयोगों में अपनत्व स्थापित करने से हुआ है, उन्हें निजरूप जानने से हुआ है, उन्हीं में एकत्वबुद्धिपूर्वक रमने-जमने से हुआ है और इन शरीरादि परद्रव्यों में एकत्व-ममत्व तो मिथ्यात्वकर्म के उदय में होता है।

संयोगी पदार्थ तो न सुखरूप हैं, न दुःखरूप हैं; वे सुख-दुःख के कारण भी नहीं हैं। सुख-दुःख का मूल कारण तो हमारी उल्टी मान्यता में ही समाहित हैं।

आयुकर्म तो मात्र इसमें ही निमित्त है कि यह जीव किस गति में कितने काल तक रहेगा ? नामकर्म शरीर की संरचना से संबंध रखता है और गोत्रकर्म तो लोकमान्य कुल और नीच कुल से संबंध रखता है। इनके कारण किसी के पेट में दर्द रहता हो ह्न ऐसी बात नहीं है। हमारा रंग काला हो या गोरा, इसके कारण हमें शारीरिक सुख-दुःख नहीं होते; वे तो मोहोदय के परिणाम हैं। मोह के बिना अघातिकर्म जरी-जेवरी के समान हैं।

अतः मोहनीय कर्म को छोड़कर शेष सात कर्म और उनके उदय में प्राप्त होने वाले संयोग और औदायिक अज्ञानादिभाव न तो बंध के कारण हैं और न मूलतः सुख-दुःखरूप ही हैं। सांसारिक सुख-दुःख का मूल कारण तो एकमात्र मोह है, मोहनीय कर्म के उदय में होनेवाले परद्रव्यों में एकत्व-ममत्व और कर्त्तृत्व-भोक्तृत्व मिथ्यादर्शन और राग-द्वेषरूप कषायभाव हैं। ●

अपने में अपनापन आनन्द का जनक है, परायों में अपनापन आपदाओं का घर है, यही कारण है कि अपने में अपनापन ही साक्षात् धर्म है और परायों में अपनापन महा-अधर्म है।

अपने में से अपनापन खो जाना ही अनन्त दुःखों का कारण है और अपने में अपनापन हो जाना ही अनन्त सुख का कारण है। अनादिकाल से यह आत्मा अपने को भूलकर ही अनन्त दुःख उठा रहा है। **ह्न आत्मा ही है शरण, पृष्ठ-४६**

तीसरा प्रवचन

महापण्डित टोडरमलजी को आचार्यकल्प कहा जाता है; क्योंकि उन्होंने जिनागम की जो सेवा की है; वह किसी भी रूप में आचार्यों से कम नहीं है। यद्यपि उन्होने आचार्यों जैसा महान कार्य किया है; तथापि उन्हें आचार्य न कहकर आचार्यकल्प कहा गया है; क्योंकि दिगम्बर जिनधर्म में आचार्य तो नग्न दिगम्बर संत ही होते हैं।

आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी ने इस तीसरे अधिकार में सांसारिक दुःख और उसके कारणों की चर्चा करने के उपरान्त मोक्षसुख और उसकी प्राप्ति के उपाय को बताया है।

इस तीसरे अधिकार में भी वे अपनी बात को स्पष्ट करने के लिये रोगी और वैद्य के उदाहरण को आगे बढ़ाते हैं।

जिसप्रकार वैद्य रोग का निदान करके रोगी की वर्तमान स्थिति को स्पष्ट करते हुये उसे इलाज करने की प्रेरणा देते हैं; उसीप्रकार पण्डित टोडरमलजी यहाँ कर्मबंधन का निदान करके, जीव की दुःखरूप वर्तमान स्थिति का ज्ञान कराकर, उसे दुःखों से छूटने के उपाय करने की प्रेरणा देते हैं।

वैद्य रोगी को बताता है कि तुम्हें अमुक बीमारी है, उसके कारण तुम दुःखी हो; तब रोगी कहता है कि मैं तो स्वस्थ हूँ; क्योंकि मेरा वजन चार किलो बढ़ गया है, अब तो मैं मोटा-ताजा हो गया हूँ। उसे समझाते हुये वैद्यजी कहते हैं कि वह मोटापन भी रोग ही है, आरोग्य नहीं।

इसीप्रकार जब शिष्य यह बात कहता है कि अब तो मुझे सर्वप्रकार अनुकूलता है, स्त्री-पुत्रादि भी अनुकूल हैं और खाने-पीने की भी कोई कमी नहीं है। तब आचार्यदेव कहते हैं कि हे भाई ! जो अनुकूल संयोग तुझे सुखरूप लगते हैं, वे सभी सुखरूप नहीं, दुःखरूप ही हैं।

इस जीव की संसार अवस्था में जो दुःख हैं; उन्हें पण्डितजी कर्मोदय की अपेक्षा से, एकेन्द्रियादि पर्यायों की अपेक्षा से और चार गतियों की अपेक्षा से समझाते हैं।

दूसरे अधिकार में यह बताया था कि कर्मों के उदय से जीव की कैसी दुर्दशा हो रही है, और अब तीसरे अधिकार में यह समझा रहे हैं कि वह अवस्था पूर्णतः दुःखरूप ही है, सुखरूप नहीं।

तात्पर्य यह है कि **इस संसार में चारों गतियों में सर्वत्र दुःख ही दुःख है, कहीं भी रंचमात्र भी सुख नहीं है। संसार में सुख खोजना, बालू में से तेल निकालने जैसा असाध्य कार्य है।** अतः इस दिशा में किया गया प्रयत्न अकार्यकारी ही है।

संसार को दुःखरूप सिद्ध करने के बाद पण्डितजी मोक्ष अवस्था की बात करते हैं। जीव की परमसुखरूप अवस्था का नाम ही मोक्ष है और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकरूपता ही मोक्ष का उपाय है।

इसप्रकार इस अधिकार का मूल प्रतिपाद्य सांसारिक दुःख और उन दुःखों के मूलकारणरूप भाव तथा परमसुखरूप मोक्ष अवस्था एवं उसे प्राप्त करने का उपाय बताना है।

इसी अधिकार को आधार बनाकर पण्डित दौलतरामजी ने छहढाला की पहली ढाल लिखी है; जिसमें चारों गतियों के दुःखों का निरूपण किया गया है।

छहढ़ाला में एकेन्द्रियादि पर्यायों और गतियों की अपेक्षा तो दुःखों का निरूपण किया है; पर कर्मों की अपेक्षा की उपेक्षा कर दी है; पर इस मोक्षमार्गप्रकाशक में एकेन्द्रियादि पर्यायों और गतियों की अपेक्षा के साथ-साथ कर्मों की अपेक्षा से भी दुःखों का वर्णन विस्तार से किया गया है।

इसप्रकार इस तीसरे अधिकार में २६ पृष्ठों में दुःखों का वर्णन करने के उपरान्त ४ पृष्ठों में मोक्षसुख का वर्णन किया है और अन्त में प्रेरणा दी

है कि यदि संसार के दुःखों से बचना है तो मोक्ष प्राप्त करने का पुरुषार्थ करो।

इस लोक में ऐसे लोग सदा ही रहे हैं कि जो यह कहते रहते हैं कि सुख प्राप्त करने के लिये मोक्ष में जाने की क्या जरूरत है; हम इस संसार को ही स्वर्ग बना देंगे।

पण्डितजी कहते हैं कि भाई ! स्वर्ग भी तो संसार में ही है; पर स्वर्ग में भी सुख कहाँ है ? स्वर्ग-नरक सभी संसार में हैं और संसार दुःखरूप ही हैं, सुख तो एकमात्र मोक्ष में ही है।

प्रश्न :ह्र दूसरे अधिकार में तो यह कहा था कि बंध का निमित्त तो एकमात्र मोहकर्म का उदय ही है और यहाँ आठों ही कर्मों के उदय को दुःखरूप सिद्ध किया जा रहा है ?

उत्तर :ह्र उक्त दोनों कथनों के दृष्टिकोणों में अन्तर यह है कि वहाँ तो मोहनीय कर्म के उदय में होनेवाले मोह-राग-द्वेष भाव बंध के कारण हैं ह्र यह बताया गया है और यहाँ यह बता रहे हैं कि मोह को छोड़कर ज्ञानावरणादि सात कर्मों के उदय में जो अवस्थाएँ हो रही हैं, जो संयोग प्राप्त हो रहे हैं; वे भी सुखरूप नहीं हैं, संतोष करने योग्य नहीं हैं; क्योंकि मोह का उदय विद्यमान होने से वे अवस्थाएँ भी दुःखरूप ही हो रही हैं।

ज्ञानावरण के क्षयोपशम से जो कुछ जानना होता है; उसमें भी अनेक पराधीनताएँ हैं। स्वस्थ इन्द्रियाँ और प्रकाशादि बाह्य अनुकूलतायें तो चाहिये ही; एक सुनिश्चित दूरी और समीपता भी चाहिये। यदि कोई वस्तु बहुत दूर हुई भी तो भी दिखाई नहीं देगी और अधिक पास हुई तो भी दिखाई नहीं देती।

उक्त अवस्था का चित्रण करते हुये पण्डित टोडरमलजी लिखते हैं ह्र

''वहाँ इच्छा तो त्रिकालवर्ती सर्वविषयों को ग्रहण करने की है। मैं सर्व का स्पर्श करूँ, सर्व का स्वाद लूँ, सर्व को सूँघूँ, सर्व को देखूँ, सर्व को सुनूँ, सर्व को जानूँ; ह्र इच्छा तो इतनी है; परन्तु शक्ति इतनी ही है कि

इन्द्रियों के सम्मुख आनेवाले वर्तमान स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द; उनमें से किसी को किंचित् मात्र ग्रहण करे तथा स्मरणादिक से मन द्वारा किंचित् जाने, सो भी बाह्य अनेक कारण मिलने पर सिद्ध हो। इसलिए इच्छा कभी पूर्ण नहीं होती। ऐसी इच्छा तो केवलज्ञान होने पर सम्पूर्ण हो।

क्षयोपशमरूप इन्द्रियों से तो इच्छा पूर्ण होती नहीं है; इसलिये मोह के निमित्त से इन्द्रियों को अपने-अपने विषय ग्रहण की निरन्तर इच्छा होती ही रहती है; उससे आकुलित होकर दुःखी हो रहा है।

ऐसा दुःखी हो रहा है कि किसी एक विषय के ग्रहण के अर्थ (लिये) अपने मरण को भी नहीं गिनता है। जैसे हाथी को कपट की हथिनी का शरीर स्पर्श करने की, मच्छ को बंसी में लगा हुआ मांस का स्वाद लेने की, भ्रमर को कमल-सुगन्ध सूँघने की, पतंगे को दीपक का वर्ण देखने की और हिरण को राग सुनने की ऐसी इच्छा होती है कि तत्काल मरना भासित हो; तथापि मरण को नहीं गिनते।

विषयों का ग्रहण करने पर उसके मरण होता था, विषयसेवन नहीं करने पर इन्द्रियों की पीड़ा अधिक भासित होती है।

इन इन्द्रियों की पीड़ा से पीड़ितरूप सर्व जीव निर्विचार होकर जैसे कोई दुःखी पर्वत से गिर पड़े, वैसे ही विषयों में छलाँग लगाते हैं। नाना कष्ट से धन उत्पन्न करते हैं, उसे विषय के अर्थ खोते हैं। तथा **विषयों के अर्थ जहाँ मरण होना जानते हैं, वहाँ भी जाते हैं।** नरकादि के कारण जो हिंसादिक कार्य, उन्हें करते हैं तथा क्रोधादि कषायों को उत्पन्न करते हैं।

वे करें क्या ? इन्द्रियों की पीड़ा सही नहीं जाती; इसलिये अन्य विचार कुछ आता नहीं। इसी पीड़ा से पीड़ित हुए इन्द्रादिक हैं; वे भी विषयों में अति आसक्त हो रहे हैं। जैसे खाज-रोग से पीड़ित हुआ पुरुष आसक्त होकर खुजाता है, पीड़ा न हो तो किसलिये खुजाये; उसीप्रकार **इन्द्रिय रोग से पीड़ित हुए इन्द्रादिक आसक्त होकर विषय सेवन करते हैं। पीड़ा न हो तो किसलिये विषय सेवन करें ?**

इसप्रकार ज्ञानावरण-दर्शनावरण के क्षयोपशम से हुआ इन्द्रियजनित ज्ञान है, वह मिथ्यादर्शनादि के निमित्त से इच्छा सहित होकर दुःख का कारण हुआ है।[१]''

जब ज्ञानावरण के क्षय से केवलज्ञान हो जाता है; तब अरहंत-सिद्ध अवस्था में जानना तो सम्पूर्ण लोकालोक का हो जाता है और जानने की इच्छा रहती नहीं; यही कारण है कि अरहंत-सिद्ध अनन्त सुखी हैं।

वहाँ अनन्तकाल तक सुखी रहने की दुहरी (डबल) व्यवस्था है। छद्मस्थ अवस्था में इच्छा तो सबको जानने की थी और जानना बहुत कम होता था और केवलज्ञान होने पर जानने की इच्छा समाप्त हो गई और जानना सबका हो गया। अतः अब दुःख होने का कोई कारण ही नहीं रहा। दुःख का कारण तो एकमात्र इच्छा थी, उसके कारण ही नहीं जाननेरूप अज्ञान दुःख का कारण बन रहा था। **अब इच्छा रही नहीं और जानना सम्पूर्ण जगत का हो गया। अतः अब तो सुख ही सुख है।**

वस्तुतः बात यह है कि अनेक प्रकार की इच्छाओंवाले परोक्ष ज्ञानी सुखी नहीं हो सकते।

इस तथ्य का चित्र प्रस्तुत करते हुये राष्ट्रकवि मैथिलीशरणजी गुप्त 'पंचवटी' नामक पुस्तक में लिखते हैं कि ह्न वनवास के अवसर पर पंचवटी की एक कुटिया में राम और सीता सुख से सो रहे थे और लक्ष्मण बाहर पहरा दे रहे थे। मन्द-मन्द सुगन्धित हवा चल रही थी और स्वच्छ चाँदनी अपनी आभा बिखेर रही थी।

मध्यरात्रि में प्रकृति की सुन्दरतम छटा से आनंदविभोर लक्ष्मण सोचते हैं कि हम यहाँ कितने मजे में हैं, प्रसन्न हैं और प्रकृति माँ की गोद में प्रफुल्लित हो रहे हैं; परन्तु दुःख इस बात का है कि हमारे इस आनन्द को हमारी माताएँ नहीं जानतीं और वे यह सोच-सोचकर दुःखी हो रही होंगी कि हम वन में न जाने कितने कष्ट में होंगे ?

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ-४७

राजमहल में न उन्हें कोई कष्ट है और न हमें इस मंगलमय जंगल में कोई असुविधा है। इसप्रकार **दोनों ओर अनुकूलता होने पर भी, सुख-सुविधा होने पर भी, दोनों ही एक-दूसरे के दुःखी होने की कल्पना मात्र से दुःखी हो रहे हैं; क्योंकि हम दोनों एक-दूसरे की अनुकूलता को नहीं जानते। परोक्षज्ञान का यही तो दोष है।**

अरे भाई ! हमारा ज्ञान भी इन्द्रियाधीन हो रहा है और हमारा सुख भी इन्द्रियाधीन हो रहा है; हमें न तो अतीन्द्रियज्ञान है और न अतीन्द्रियसुख। यही कारण है कि मोह की विद्यमानता से ज्ञान का परोक्षपना, पराधीनपना हमारे लिये अनन्तदुःख का कारण बन रहा है।

यद्यपि यह परम सत्य है कि ज्ञानावरण के उदय से जो नहीं जाननेरूप औदायिक अज्ञान होता है, वह कर्मबंध का कारण नहीं है; तथापि मोहोदय के साथ होनेवाला क्षायोपशमिक अज्ञान-मिथ्याज्ञान अनन्त-दुःख का कारण बन रहा है। **मोहोदय से जानने की इतनी तीव्र इच्छा होती है कि मौत की कीमत पर भी यह सबकुछ जान लेना चाहता है।**

यद्यपि हृदयरोगी खतरनाक झूलों पर नहीं झूल सकते; तथापि यह कहता है मुझे देखना है कि इस झूले पर झूलने से कैसा लगता है ? मरना तो एक न एक दिन सबको ही है। इसप्रकार मौत की कीमत पर भी वह झूले पर झूलकर देखना चाहता है।

पर्यटन का सम्पूर्ण व्यवसाय इस देखने-जानने की इच्छा के आधार पर ही चल रहा है। भारतीय लोगों को अमेरिका देखना है और अमरीकी लोगों को भारत देखना है। **मात्र देखने-जानने की इच्छा की पूर्ति के लिये हम सम्पूर्ण विश्व के चक्कर लगाते रहते हैं।**

अरे भाई ! जब केवलज्ञान हो जायेगा, तब सबकुछ सहज ही जानने में आ जायेगा। इस पर यह कहता है कि जब जानने की इच्छा ही नहीं रहेगी तो जानने का क्या लाभ है ?

कैसी विचित्र स्थिति है कि जब हम मौत की कीमत पर सबको एक साथ जान लेना चाहते हैं, देख लेना चाहते हैं; तब तो सबका

जानना-देखना होता नहीं है और जब जानने-देखने की इच्छा नहीं रहती, तब सबकुछ एक साथ जानने-देखने में आ जाता है।

एक व्यक्ति प्रतिदिन प्रातः घर के दरवाजे के बाहर चबूतरे पर बैठकर दातुन (दंतमंजन) किया करता था। उसी समय गाँव की गाय-भैंसें जंगल में चरने को जाने के लिये निकलती थीं।

उन भैसों में से एक भैंस के सींग विचित्र रूप से टेड़े-मेढ़े थे। उन्हें देखकर वह सोचता कि यदि इस भैंस के सींगों में मेरी गर्दन फँस जाये तो क्या होगा ? उसकी उक्त जिज्ञासा (जानने की इच्छा) निरन्तर बलवती होती गई और एक दिन ऐसा आया कि उसने अपनी गर्दन उक्त भैंस के सींगों में स्वयं फँसा ली। इस अप्रत्याशित स्थिति के लिये भैंस तैयार न थी; अतः वह विचक गई और भाग खड़ी हुई।

अब जरा विचार कीजिए कि तब क्या हुआ होगा ?

हुआ क्या होगा, वह व्यक्ति अस्पताल पहुँच गया, आपातकालीन कक्ष में प्रविष्ठ हो गया। उसकी हालत अच्छी न थी। उसके इष्ट-मित्र उसे देखने के लिये अस्पताल पहुँचे और उससे पूँछने लगे कि यह सब कैसे हो गया ? तब कराहते हुये वह कहने लगा कि मेरी गर्दन भैंस के सींगों में फँस जाने से वह भड़क गई और यह सबकुछ हो गया। तब लोगों ने पूँछा कि आखिर यह हुआ कैसे ?

तब वह कहने लगा। हुआ कैसे, यह जानने के लिये कि ऐसा होने पर क्या होगा ह्न मैंने ही अपनी गर्दन उसके सींगों में फँसा ली थी।

उसकी यह बात सुनकर लोग कहने लगे कि ह्न अरे भाई ! गर्दन फँसाने के पहले कुछ सोचना तो चाहिये था। तब बड़ी ही मासूमियत से वह कहने लगा कि मैंने थोड़ा-बहुत नहीं, लगातार छह माह तक सोचा था; इस स्थिति को जानने की जिज्ञासा जब इतनी तीव्र हो गई कि मेरे से नहीं रहा गया; तब मैंने स्वयं ही अपनी गर्दन भैंस के सींगों में फँसा ली।

अरे भाई ! यह तो मात्र उदाहरण है; सच्ची बात तो यह है कि हम

सभी इसीप्रकार जानने-देखने के लोभ में निरन्तर अपनी गर्दन फँसाये चले जा रहे हैं। मौत की कीमत पर भी समुद्र की तलहटी में चले जाते हैं, आकाश में अपने करतब दिखाते हैं और न मालूम क्या-क्या करते हैं ?

जानने की सामर्थ्य थोड़ी और मोह के तीव्र उदय से जानने की इच्छा अनन्त ह्न यही कारण है कि अज्ञानी का क्षयोपशमिक ज्ञान-दर्शन भी मोहोदय के कारण अनन्त दुःख का कारण बन रहा है। जानने की इच्छा (जिज्ञासा) के कारण ही बालक अग्नि को छूकर देखना चाहता है।

जब कोई तलाक देता है तो लोग उससे जानना चाहते हैं कि पहले से ही अच्छी तरह देखभाल कर, सोच-विचारकर शादी क्यों नहीं की ?

यदि पहले से ही सावधान रहते तो यह दिन नहीं देखना पड़ता ?

उत्तर में वह कहता है कि मैंने बहुत सोचा था, महिनों तक डेटिंग (शादी के पहले मिलना-जुलना) की थी; फिर भी.......। अरे भाई ! सभी ने इसीप्रकार सोच-सोचकर गर्दन फँसाई है और अब भोग रहे हैं।

टी.वी. और सिनेमा का देखने-दिखाने का अरबों रुपयों का व्यवसाय चल रहा है। वहाँ है क्या, मात्र नग्न चित्रों को देखने की इच्छा ही इस अनुपयोगी व्यवसाय को पनपा रही है।

मोहनीय कर्म में, विशेषकर दर्शन मोहनीय अर्थात् मिथ्यात्व के उदय में यह जीव लगभग सम्पूर्ण जगत से अपनापन स्थापित कर लेता है; जो पदार्थ इसके ज्ञान के ज्ञेय बनते हैं, उनसे ही अपनापन स्थापित कर लेता है।

इसप्रकार के लोगों की वृत्ति और प्रवृत्ति का चित्रण पण्डित टोडरमलजी इसप्रकार करते हैं ह्न

"जैसे ह्न पागल को किसी ने वस्त्र पहिना दिया। वह पागल उस वस्त्र को अपना अंग जानकर अपने को और वस्त्र को एक मानता है। वह वस्त्र पहिनानेवाले के आधीन होने से कभी वह फाड़ता है, कभी जोड़ता है, कभी खोंसता है, कभी नया पहिनाता है ह्न इत्यादि चरित्र करता है।

वह पागल उसे अपने आधीन मानता है; उसकी पराधीन क्रिया होती है, उससे वह महा खेद-खिन्न होता है।

उसीप्रकार इस जीव को कर्मोदय ने शरीर सम्बन्ध कराया। यह जीव उस शरीर को अपना अंग जानकर अपने को और शरीर को एक मानता है। वह शरीर कर्म के आधीन कभी कृष होता है, कभी स्थूल होता है, कभी नष्ट होता है, कभी नवीन उत्पन्न होता है ह्न इत्यादि चरित्र होते हैं। यह जीव उसे अपने आधीन मानता है; उसकी पराधीन क्रिया होती है; उससे महाखेदाखिन्न होता है।

तथा जैसे ह्न जहाँ वह पागल ठहरा था; वहाँ मनुष्य, घोड़ा, धनादिक कहीं से आकर उतरे; वह पागल उन्हें अपना जानता है। वे तो उन्हीं के आधीन कोई आते हैं, कोई जाते हैं, कोई अनेक अवस्थारूप परिणमन करते हैं; वह पागल उन्हें अपने आधीन मानता है, उनकी पराधीन क्रिया हो तब खेदखिन्न होता है।

उसीप्रकार यह जीव जहाँ पर्याय धारण करता है; वहाँ स्वयमेव पुत्र, घोड़ा, धनादिक कहीं से आकर प्राप्त हुए; यह जीव उन्हें अपना जानता है। वे तो उन्हीं के आधीन कोई आते हैं, कोई जाते हैं, कोई अनेक अवस्थारूप परिणमन करते हैं; यह जीव उन्हें अपने आधीन मानता है, और उनकी पराधीन क्रिया हो तब खेदखिन्न होता है।[१]''

इसप्रकार दर्शनमोहनीय कर्म अर्थात् मिथ्यात्व के उदय से यह जीव अनन्त दुःख प्राप्त करता रहा है।

चारित्र मोहनीय के उदय में २५ कषायें होती हैं। कषायों के कारण इस जीव की कैसी दुर्दशा होती है ह्न यह किसी से छुपी नहीं है। पण्डितजी ने इसका बहुत मार्मिक चित्र प्रस्तुत किया है।

क्रोध के उदय में आँखें लाल हो जाती हैं, गालियाँ बकने लगता है, माँ-बहिन का भी ख्याल नहीं रखता है; मरने-मारने पर उतारू हो जाता है।

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ-५१-५२

यदि कोई इष्टजन या पूज्य पुरुष बीच में आ जाये तो उन्हें भी भला-बुरा कहने लगता है, कुछ विचार नहीं करता। यदि अन्य का बुरा न हो तो बहुत दुःखी होता है और अपने अंगों का घात करने लगता है, विषादि का भक्षण कर मर जाता है।

मान कषाय के कारण औरों को नीचा और स्वयं को ऊँचा दिखाने की इच्छा होती है, तदर्थ अनेक उपाय करता है। मरने के बाद हमारा यश होगा ह्न ऐसा सोचकर मरकर भी अपनी महिमा बढ़ाना चाहता है। सफल न होने पर बहुत दुःखी होता है और विषादि खाकर मर जाता है।

इसीप्रकार २५ कषायों के उदय में मरणपर्यन्त दुःख भोगने का चित्रण टोडरमलजी ने इस तीसरे अधिकार में किया है; जो मूलतः पठनीय है। विस्तारभय से यहाँ प्रत्येक की चर्चा करना संभव नहीं है।

जरा विचार करो कि कषायों की तीव्रता का कितना दुःख है कि उससे बचने के लिये यह जीव मरण की शरण खोजता है, मरण की शरण में चला जाता है। निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुये पण्डितजी लिखते हैं ह्न

''यहाँ ऐसा विचार आता है कि यदि इन अवस्थाओं में न प्रवर्तें तो क्रोधादिक पीड़ा उत्पन्न करते हैं और इन अवस्थाओं में प्रवर्तें तो मरणपर्यन्त कष्ट होते हैं। **वहाँ मरणपर्यन्त कष्ट तो स्वीकार करते हैं, परन्तु क्रोधादिक की पीड़ा सहना स्वीकार नहीं करते। इससे यह निश्चित हुआ कि मरणादिक से भी कषायों की पीड़ा अधिक है।**[१]''

इसप्रकार यह जीव कषायभावों से पीड़ित हुआ निरन्तर अनन्त दुःखी होता रहता है।

इसप्रकार यहाँ ज्ञानावरण, दर्शनावरण और मोहनीय कर्म के उदय में होनेवाले दुःखों का संक्षेप में वर्णन किया। इसीप्रकार अन्तराय कर्मोदय से दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य में होनेवाली रुकावट व वेदनीय,

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ-५५

आयु, नाम और गोत्र कर्म के उदय में होनेवाले अनुकूल-प्रतिकूल संयोग भी मोहकर्म के सद्भाव में दुःख के ही कारण बनते हैं।

वैसे तो कोई भी संयोग-वियोग सुख-दुःख के कारण नहीं हैं; पर मोह के उदय में महान दुःखदायी हो जाते हैं।

इसप्रकार अब तक यह समझाया गया है कि संसारी जीवों के कर्मोदय की अपेक्षा से मिथ्यादर्शनादि के निमित्त से दुःख ही दुःख पाया जाता है और अब यह समझाते हैं कि पर्याय अपेक्षा से एकेन्द्रियादि जीव चारों गतियों में भ्रमण करते हुए अनन्त दुःख उठा रहे हैं।

एकेन्द्रियादि जीवों के दुःखों का निरूपण करते हुये भी यही बताते हैं कि वे जीव किस अवस्था में किस कर्म के उदय में किसप्रकार के दुःख भोग रहे हैं।

एकेन्द्रियादि जीवों के दुःखों की चर्चा आरंभ करते हुये पण्डित टोडरमलजी लिखते हैं ह्व

‘‘इस संसार में बहुत काल तो एकेन्द्रिय पर्याय में ही बीतता है। इसलिये अनादि ही से तो नित्यनिगोद में रहना होता है; फिर वहाँ से निकलना ऐसा है कि जैसे भाड़ में भुंजते हुए चने का उचट जाना।

इसप्रकार वहाँ से निकलकर अन्य पर्याय धारण करे तो **त्रस में तो बहुत थोड़े ही काल रहता है; एकेन्द्रिय में ही बहुत काल व्यतीत करता है।**

वहाँ इतरनिगोद में बहुत काल रहना होता है तथा कितने काल तक पृथ्वी, अप, तेज, वायु और प्रत्येक वनस्पति में रहना होता है। नित्यनिगोद से निकलकर बाद में त्रस में रहने का उत्कृष्ट काल तो साधिक दो हजार सागर ही है तथा एकेन्द्रिय में रहने का उत्कृष्ट काल असंख्यात पुद्गल परावर्तन मात्र है और पुद्गल परावर्तन का काल ऐसा है कि जिसके अनन्तवें भाग में भी अनन्त सागर होते हैं। इसलिए इस संसारी के मुख्यतः एकेन्द्रिय पर्याय में ही काल व्यतीत होता है।

वहाँ एकेन्द्रिय के ज्ञान-दर्शन की शक्ति तो किंचित्मात्र ही रहती है।

एक स्पर्शन इन्द्रिय के निमित्त से हुआ मतिज्ञान और उसके निमित्त से हुआ श्रुतज्ञान तथा स्पर्शन इन्द्रियजनित अचक्षुदर्शन ह्व जिनके द्वारा शीत-उष्णादिक को किंचित् जानते-देखते हैं। ज्ञानावरण-दर्शनावरण के तीव्र उदय से इससे अधिक ज्ञान-दर्शन नहीं पाये जाते और विषयों की इच्छा पायी जाती है, जिससे महादुःखी हैं।

तथा दर्शनमोह के उदय से मिथ्यादर्शन होता है; उससे पर्याय का ही अपनेरूप श्रद्धान करते हैं, अन्य विचार करने की शक्ति ही नहीं है।

तथा चारित्रमोह के उदय से तीव्र क्रोधादिक-कषायरूप परिणमित होते हैं; क्योंकि उनके केवली भगवान ने कृष्ण, नील, कापोत ये तीन अशुभ लेश्यायें ही कही हैं और वे तीव्र कषाय होने पर ही होती हैं।

वहाँ कषाय तो बहुत हैं और शक्ति सर्व प्रकार से महाहीन है; इसलिए बहुत दुःखी हो रहे हैं, कुछ उपाय नहीं कर सकते।[१]

तथा ऐसा जानना कि जहाँ कषाय बहुत हो और शक्तिहीन हो, वहाँ बहुत दुःख होता है और ज्यों-ज्यों कषाय कम होती जाये तथा शक्ति बढ़ती जाये त्यों-त्यों दुःख कम होता है। परन्तु एकेन्द्रियों के कषाय बहुत और शक्ति हीन; इसलिये एकेन्द्रिय जीव महादुःखी हैं। उनके दुःख वे ही भोगते हैं और केवली जानते हैं।

जैसे ह्व सन्निपात के रोगी का ज्ञान कम हो जाये और बाह्य शक्ति की हीनता से अपना दुःख प्रगट भी न कर सके, परन्तु वह महादुःखी है; उसीप्रकार एकेन्द्रिय का ज्ञान तो थोड़ा है और बाह्य शक्तिहीनता के कारण अपना दुःख प्रगट भी नहीं कर सकता, परन्तु महादुःखी है।[२]’’

इसप्रकार हम देखते हैं कि निगोद भी तिर्यंचगति में ही आता है; **जहाँ एक श्वांस में अठारह बार जन्म और अठारह बार मरण होता**

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ-६२-६३
२. वही, पृष्ठ-६३-६४

है। इस जगत में जन्म-मरण का दुःख ही सबसे बड़ा दुःख है; जिसे वे निगोदिया जीव निरन्तर भोगते रहते हैं।

जब हमारी सौ-दो सौ रुपयों की कोई वस्तु खो जाती है तो हमें कितना दुःख होता है; पर मरण तो सम्पूर्ण वस्तुओं का एक साथ खो जाने का नाम है। आप कल्पना कर सकते हैं, उसके अनुपात में सर्वस्व खो जाने पर कितना दुःख होता होगा ? यही कारण है कि सभी संसारी जीवों को सबसे बड़ा दुःख मरने का लगता है। यह जीव सबकुछ खोकर भी मरने से बचना चाहता है। जीवन में एक बार मरने के दुःख की अपेक्षा जिसे एक श्वांस में १८ बार मरना पड़ता हो; उसे कितना दुःख होगा ह्न इसे आसानी से समझा जा सकता है। मरण के समान जन्म भी कम कष्टदायक नहीं है।

कुछ लोग कहते हैं कि वहाँ तो ज्ञान न के बराबर ही है, एकदम बेहोशी जैसी अवस्था है। बेहोशी में दुःख कैसा ?

अरे भाई ! ज्ञान का विकास दुःख का कारण थोड़े ही है। ज्ञान का विकास किसी अपेक्षा से सुख का कारण तो हो सकता है; पर दुःख का कारण ज्ञान को मानना तो सबसे बड़ा अज्ञान है। वस्तुतः बात यह है कि ज्ञान के विकास की कमी होने से उसका दुःख प्रगट नहीं हो पाता। प्रगट नहीं हो पाने का तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि वह दुःखी नहीं है।

निगोदिया जीव वनस्पतिकायिक जीव हैं। निगोदियों के अलावा भी वनस्पतिकायिक जीव होते हैं। पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक और वायुकायिक एकेन्द्रिय जीव भी तिर्यंचगति में आते हैं। वे भी अनन्त दुःखी ही हैं। इसीप्रकार विकलत्रय (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय) भी तिर्यंचगति में आते हैं।

मन रहित असैनी पंचेन्द्रिय जीव भी तिर्यंचगति में ही हैं। इसप्रकार सबसे अधिक दुःख कहीं है तो वह तिर्यंचगति में ही है।

द्वीन्द्रियादि से लेकर असैनी पंचेन्द्रिय तक के जीवों की स्थिति भी लगभग एकेन्द्रिय जैसी ही है। अन्तर मात्र इतना ही है कि उनकी अपेक्षा इनमें ज्ञान का उघाड़ क्रमशः कुछ अधिक हुआ है और बोलने-चालने की भी शक्ति प्रगट हुई है; अतः इनका दुःख कुछ-कुछ प्रगट दिखाई देता है। इन जीवों की क्रोधादि से लड़ना, मारना, काटना, भागना व अन्नादि का संग्रह करना आदि क्रियाएँ दिखाई देती हैं। सर्दी-गर्मी, छेदन-भेदन के दुःख तो सभी को हैं ही।

इसप्रकार एकेन्द्रिय से लेकर असैनी पंचेन्द्रिय तक के जीवों के दुःखों का संक्षिप्त निरूपण करने के उपरान्त अब सैनी पंचेन्द्रिय जीवों के दुःखों की चर्चा चारों गतियों की अपेक्षा करते हैं; क्योंकि एकेन्द्रिय से लेकर असैनी पंचेन्द्रिय तक के जीव तो सभी तिर्यंचगति के ही जीव हैं।

सैनी पंचेन्द्रिय तिर्यंचों के दुःखों का वर्णन मोक्षमार्गप्रकाशक के अनुसार ही छहढ़ाला में इसप्रकार किया गया है ह्न

सिंहादिक सैनी ह्वै क्रूर, निबल पशू हति खाये भूर।
कबहूँ आप भयो बलहीन, सबलनि करि खायो अति दीन ।।
छेदन-भेदन भूख पियास, भार-वहन हिम-आतप त्रास।
बध-बन्धन आदिक दुःख घने, कोटि जीभतैं जात न भने।।

यदि सैनी तिर्यंच सिंहादिक भी हो गया तो निरन्तर निर्बल पशुओं को मारकर खाता रहता है। यदि कभी स्वयं बलहीन दीन पशु हो गया तो अन्य सबल पशुओं का आहार बन जाता है। छेदन-भेदन, भूख-प्यास, बोझा ढोना और सर्दी-गर्मी के दुःख तो भोगने ही पड़ते हैं। इसके अतिरिक्त बाँधा जाना, मारा जाना आदि अनेक प्रकार के इतने दुःख होते हैं कि जिनका कथन करोड़ जिव्हाओं से भी नहीं किया जा सकता।

सैनी पंचेन्द्रिय जीव चारों गतियों में पाये जाते हैं। अतः उनके दुःखों का वर्णन गतियों की अपेक्षा किया गया है। गतियों में पाये जानेवाले दुःखों का निरूपण भी पण्डितजी कर्मोदय की अपेक्षा से ही करते हैं।

नारकी जीवों में अपेक्षाकृत ज्ञान का विकास अधिक है; तथापि

उनके पंचेन्द्रिय विषय-सेवन की इच्छा बहुत है और विषय-सामग्री का पूर्णतः अभाव है; अतः वे अत्यन्त दुःखी हैं।

उनके कषायों की तीव्रता अत्यधिक है और उनके कृष्णादि अशुभ लेश्यायें ही होती हैं। इस कारण भी वे बहुत दुःखी हैं।

मोक्षमार्गप्रकाशक में निरूपित नरकगति में जीवों के दुखों का वर्णन छहढ़ाला में पण्डित दौलतरामजी अति संक्षेप में इसप्रकार करते हैं ह्न

तहाँ भूमि परसत दुःख इसो, बिच्छू सहस डसैं नहिं तिसो।
तहाँ राध-शोणित वाहिनी, कृमि-कुल कलित देह दाहिनी ।।९ ।।
सेमर तरु दल जुत असिपत्र, असि ज्यौं देह विदारैं तत्र ।
मेरु-समान लोह गलि जाय, ऐसी शीत उष्णता थाय ।।१० ।।
तिल-तिल करैं देह के खण्ड, असुर भिड़ावैं दुष्ट प्रचण्ड ।
सिंधु-नीर तैं प्यास न जाय, तो पण एक न बूँद लहाय ।।११ ।।
तीन लोक को नाज जु खाय, मिटै न भूख कणा न लहाय ।
ये दुःख बहु सागर लौं सहे, करम-जोग तैं नरगति लहै ।।१२ ।।

नरक की भूमि इसप्रकार की होती है कि जिसे छूते ही ऐसी पीड़ा होती है कि जैसी पीड़ा हजार बिच्छुओं के काटने से भी नहीं होती।

वहाँ की खून और पीप से भरी हुई देह को जला देनेवाली भयंकर नदियाँ कीड़े-मकोड़ों से भरी हुई होती है।

सेमर नामक वृक्षों के तरवार की धार के समान पत्ते उनके शरीर को उसीप्रकार चीर देते हैं, जिसप्रकार तलवार शरीर को चीर देती है। सर्दी-गर्मी ऐसी पड़ती है कि यदि मेरु के समान विशाल लोहे का गोला वहाँ डाला जाय तो वह गर्मी से गल जायेगा और सर्दी से क्षार-क्षार हो जायेगा।

असुर जाति के देव जाकर उन्हें परस्पर लड़ाते हैं, जिससे वे परस्पर एक-दूसरे की देह के खण्ड-खण्ड कर डालते हैं।

समुद्रों पानी पी लेने पर भी प्यास न बुझे ह्न ऐसी भयंकर प्यास लगती है, फिर भी पानी की एक भी बूँद प्राप्त नहीं होती। इसीप्रकार तीन लोकों

में प्राप्त सम्पूर्ण अनाज खा जावे, तब भी भूख नहीं मिटे ह्न ऐसी भूख लगती है, पर खाने को एक कण भी प्राप्त नहीं होता।

नरकों में इस जीव को इसप्रकार के दुःख अनेक सागरों पर्यन्त भोगने पड़ते हैं।

प्रश्न ह्न अनाज मात्र मध्यलोक में ही पैदा होता है, वहाँ भी सभी जगह नहीं; क्योंकि पृथ्वी के तीन चौथाई भाग में तो पानी ही पानी है। जहाँ जमीन है, वहाँ भी तो सब जगह अनाज पैदा नहीं होता। ऐसी स्थिति में तीन लोक के अनाज को खाने की बात क्या ठीक है ?

उत्तर ह्न अरे भाई ! अनाज कहाँ-कहाँ पैदा होता है और कहाँ नहीं ह्न यह बात यहाँ नहीं है। यहाँ तो यह बताया जा रहा है जहाँ और जितना अनाज पैदा होता है; यदि वह सभी खा जावे तो भी नारकी को तृप्ति नहीं होगी। ह्न ऐसा कहकर उनकी भूख की भयंकरता का ज्ञान कराया है।

नरकगति और तिर्यंचगति में दुःख हैं; यह तो सभी लोग मानते हैं; परन्तु मनुष्य व देवगति में भी दुःख ही दुःख हैं ह्न यह बात सभी को सहज स्वीकार नहीं होती है।

पण्डित टोडरमलजी ने इस तीसरे अधिकार में मनुष्यगति और देवगति के जीव भी दुःखी हैं ह्न इस बात को सयुक्ति समझाया है; जिसका सार छहढ़ाला में पण्डित दौलतरामजी इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं ह्न

जननी उदर बस्यो नव मास, अंग-सकुचतैं पायो त्रास।
निकसत जे दुःख पाये घोर, तिनको कहत न आवे ओर।।१३।।
बालपने में ज्ञान न लह्यौ, तरुण समय तरुणीरत रह्यौ।
अर्द्धमृतक-सम बूढ़ापनो, कैसे रूप लखै आपनो।।१४।।
कभी अकाम-निर्जरा करै, भवनत्रिक में सुरतन धरै।
विषयचाह-दावानल दह्यो, मरत विलाप करत दुख सह्यो।।१५।।
जो विमानवासी हू थाय, सम्यग्दर्शन बिन दुःख पाय।
तहँ तैं चय थावर-तन धरै, यों परिवर्तन पूरे करै।।१६।।

मनुष्य गति में जन्म से पहिले नौ महिनों तक माँ के पेट में रहना पड़ता है; वहाँ स्थान की कमी के कारण अंगों के सिकुड़े रहने से असह्य वेदना सहनी पड़ती है और जब जन्म होता है, तब जो भयंकर पीड़ा होती है, उसका कहना तो असंभव सा ही है, उसका तो कोई ओर-छोर ही नहीं है।

जन्म के बाद इसका बचपन अज्ञानदशा में ही बीत जाता है और जवानी में यह जवान पत्नी के राग में लीन रहता है। जरा विचार तो करो कि अधमरे के समान वृद्धावस्था में अपने आत्मा को प्राप्त करने का पुरुषार्थ कैसे किया जा सकता है?

यदि कभी अकामनिर्जरा के कारण देवगति में भवनवासी, व्यंतर या ज्योतिषी देव हो जाता है तो वहाँ पंचेन्द्रिय विषयों के दावानल में जलता रहता है और जब मरण का समय आता है; तब विलाप करने लगता है। इसप्रकार यह जीव भवनत्रिक देवों में दुःख भोगता रहता है।

यदि कभी वैमानिक देव हो गया, स्वर्गों में चला गया; तब भी वहाँ सम्यग्दर्शन के बिना दुःखी ही रहता है। और अन्त में मिथ्यात्व के कारण वहाँ से च्युत होकर एकेन्द्रियपर्याय में चला जाता है, निगोद में चला जाता है।

इसप्रकार यह जीव इस संसार में पंचपरावर्तन करते हुये सर्वत्र ही अनन्त दुःख भोगता रहता है।

देखो, वैमानिक देवों की चर्चा करते हुये उन्होंने ३१ सागर की आयु वाले नववीं ग्रैवेयक तक के देवों की ही चर्चा की; क्योंकि मिथ्यादृष्टि जीव वहीं तक जाते हैं, वहीं तक होते हैं; उसके ऊपर अनुदिश और पाँच अनुत्तर हैं, जिनमें सर्वार्थसिद्धि भी शामिल हैं; इनमें रहनेवाले जीव तो नियम से सम्यग्दृष्टि ही होते हैं। **सम्यग्दृष्टि जीव तो सर्वत्र सुखी ही हैं; क्योंकि दुःख के कारण तो मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र ही हैं। सम्यग्दृष्टियों को चारित्रमोह के उदय में जो दुःख देखा जाता**

है, वह नगण्य ही है और अल्पकाल में स्वयं समाप्त हो जानेवाला है; क्योंकि सम्यग्दृष्टि धर्मात्माओं के भवचक्र का अन्त आ गया है।

कल्पोपपन्न और कल्पातीत के भेद से वैमानिक देव भी दो प्रकार के होते हैं। जिनमें इन्द्र, सामानिक आदि दस भेद होते हैं, उन्हें कल्पोपपन्न कहते हैं और जिनमें इसप्रकार के भेद नहीं होते, सभी इन्द्र के समान हो; उन्हें अहमिन्द्र कहते हैं; वे कल्पातीत कहलाते हैं।

पहले स्वर्ग से सोलहवें स्वर्ग तक के देव कल्पोपपन्न हैं और उसके ऊपर के अर्थात् नव ग्रैवेयक, नव अनुदिश और पाँच अनुत्तर के सभी देव कल्पातीत कहलाते हैं।

कल्पोपपन्न देवों में छोटे-बड़े का भेद होने से हीन भावना का भी दुःख पाया जाता है। **ऐरावत हाथी भी आभियोग्य जाति का देवगति का जीव है, तिर्यंच नहीं; पर उसे हाथी बनकर इन्द्रों को अपनी पीठ पर बिठाना पड़ता है। ऐसी स्थिति में उसकी मानसिक पीड़ा की कल्पना की जा सकती है।** हम भी पंचकल्याणकों में इन्द्रों की ही बोलियाँ लेते हैं, कोई व्यक्ति ऐरावत हाथी की बोली नहीं लेता; इसी कारण उनकी बोली नहीं लगाई जाती।

इसप्रकार हम देखते हैं कि चारों गतियों में जीव एकमात्र मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र के कारण ही दुःखी हैं और उन दुःखों के बचने का एकमात्र उपाय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की प्राप्ति ही है।

इस तीसरे अधिकार में चारों गतियों के दुःखों का निरूपण करने के उपरान्त दुःख के सामान्य स्वरूप का निरूपण किया है, जिसमें चार प्रकार की इच्छाओं का मौलिक चिन्तन प्रस्तुत किया गया है। तदुपरान्त मोक्षसुख की संक्षिप्त चर्चा है। उक्त विषयों की चर्चा अगले प्रवचनों में यथास्थान होगी ही। ●

चौथा प्रवचन

मोक्षमार्गप्रकाशक नामक शास्त्र में प्रतिपादित विषय-वस्तु की चर्चा चल रही है। **इसके प्रथम अधिकार में** मंगलाचरण, पंचपरमेष्ठी का स्वरूप, पढ़ने-सुनने योग्य शास्त्र, वक्ता-श्रोता का स्वरूप एवं ग्रन्थ की प्रामाणिकता आदि विषयों पर प्रकाश डाला गया है।

दूसरे अधिकार में कर्मबन्धन का निदान, घाति-अघाति कर्म और उनके कार्य, चार प्रकार के बंध, कर्मों की सत्ता और उनके उदय से होने वाली विभिन्न अवस्थाओं का विशद निरूपण किया गया है।

तीसरे अधिकार में अबतक संसार के दुःख और उनके मूल कारणों की कर्मों की अपेक्षा तथा एकेन्द्रियादि पर्यायों और चारगतियों की अपेक्षा से गहरी मीमांसा की गई है। अब दुःखों का सामान्य स्वरूप स्पष्ट किया जा रहा है। इसके बाद मोक्षसुख और उसकी प्राप्ति के उपाय की चर्चा करेंगे।

'दुःख का सामान्य स्वरूप' इस मोक्षमार्गप्रकाशक शास्त्र का एक ऐसा प्रकरण है कि जो अन्यत्र दुर्लभ है। इसमें पण्डितजी चार प्रकार की इच्छाओं की चर्चा करते हैं; जो इसप्रकार हैं ह्र

१. विषय, २. कषाय, ३. पाप का उदय और ४. पुण्य का उदय।

पाँच इन्द्रियों के माध्यम से देखने-जानने की इच्छा का नाम **विषय** है और कषायभावों के अनुसार कार्य करने की इच्छा का नाम **कषाय** है।

यद्यपि इन विषय और कषाय नामक इच्छाओं में अन्य कोई पीड़ा नहीं है; तथापि जबतक इन्द्रियविषयों का ग्रहण नहीं होता अर्थात् देखना-जानना नहीं होता और अपनी इच्छा के अनुसार कार्य नहीं होता; तबतक यह जीव अत्यन्त व्याकुल रहता है।

पापकर्म के उदय से प्राप्त अनिष्ट संयोगों को दूर करने की इच्छा का नाम **पाप का उदय** है। जबतक वे अनिष्ट संयोग दूर न हों, तबतक यह जीव महा व्याकुल रहता है।

उक्त तीन प्रकार की इच्छाओं के अनुसार प्रवर्तन करने की इच्छा का नाम **पुण्य का उदय** है। पुण्य के उदय के अनुसार प्राप्त अनेकानेक अनुकूलताओं को एक साथ भोगना संभव नहीं हो पाता; इस कारण पुण्य के उदयवाले जीव भी व्याकुल रहते हैं।

सम्पूर्ण जगत उक्त इच्छाओं से पीड़ित हो रहा है। दुःख का कारण एकमात्र ये इच्छायें हैं, बाह्य संयोग नहीं। संयोगी परपदार्थ तो परद्रव्य हैं। जब एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्त्ता-धर्त्ता ही नहीं है तो फिर परद्रव्य जीव को सुखी-दुःखी कैसे कर सकते हैं ?

एक ओर भरतचक्रवर्ती के पास अपार भोगसामग्री थी; पर वह भोगसामग्री उनका अहित नहीं कर पाई; वहीं दूसरी ओर मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी मुनि के पास रंचमात्र भी भोगसामग्री नहीं होती, फिर भी उनके आत्मा का कल्याण नहीं हो पाता। इससे सहज ही सिद्ध है कि बाह्यसामग्री हित-अहित करनेवाली नहीं है; आत्मा का अहित करनेवाली इच्छाएँ ही हैं। यही कारण है कि इच्छाओं के निरोध को तप कहा गया है।

लोक में तीव्र कषाय से जिसे बहुत इच्छाएँ हैं, उन्हें दुःखी कहते हैं और मन्दकषाय से जिन्हें कम इच्छाएँ हैं, उन्हें सुखी कहते हैं; परन्तु सत्य तो यह है कि बहुत इच्छावाले जीव बहुत दुःखी हैं और कम इच्छावाले जीव कम दुःखी हैं; पर दुःखी तो दोनों ही हैं, सुख तो दोनों में से किसी को भी नहीं है।

इन इच्छाओं की उत्पत्ति मिथ्यात्व, अज्ञान और असंयम के कारण होती है तथा आकुलतारूप होने से ये इच्छाएँ दुःखरूप ही हैं।

विषय और कषायरूप इच्छाओं की दुःखरूपता स्पष्ट करते हुये पण्डित दौलतरामजी देव-स्तुति में लिखते हैं ह्र

आतम के अहित विषय-कषाय, इनमें मेरी परिणति न जाय।

उक्त पंक्ति में यह कहा गया है कि आत्मा का अहित करनेवाले मूलतः विषय और कषायें हैं।

'आतम के अहित विषय-कषाय' के साथ 'इनमें मेरी परिणति न जाय' लिखकर दौलतरामजी ने तीसरी इच्छा की ओर संकेत किया है।

जब पाँच इन्द्रियों के विषयों को छोड़ने की बात चलती है तो हम भोग-सामग्री को छोड़ने की बात करने लगते हैं, पर मैं यह नहीं कहता कि विषय-सामग्री के भोग का त्याग नहीं करना चाहिये; पर यह अवश्य कहना चाहता हूँ कि **यहाँ पण्डित टोडरमलजी विषय का अर्थ परज्ञेयों को जानने-देखने की इच्छा को बता रहे हैं और उसे ही दुःखरूप सिद्ध कर रहे हैं। उनका कहना यह है कि जानने-देखने की इच्छावालों को क्षायोपशमिक ज्ञान होता है। इसकारण उनकी जानने की शक्ति तो होती है अत्यन्त अल्प और इच्छा सम्पूर्ण जगत को जानने की रहती है; इसकारण वे निरन्तर आकुलित रहते हैं।**

इसीप्रकार कषाय शब्द के व्यापक अर्थ तक भी हम नहीं पहुँच पाते। अकेली क्रोध-मान ही कषायें नहीं हैं, हास्यादि भी कषायें हैं। जब हम खिलखिलाकर हँस रहे होते हैं, तब क्या हम यह अनुभव करते हैं कि हम कषाय कर रहे हैं, इसलिये दुःखी हैं। हँसते समय तो हम स्वयं को सुखी ही मानते हैं, आनन्दित ही होते हैं।

इसीप्रकार जब हम डर रहे होते हैं, शोक कर रहे होते हैं, ग्लानि से भर गये होते हैं; तब भी क्या हम यह अनुभव करते हैं कि हम कषाय कर रहे हैं। **विगत प्रकरण में तो मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद को भी कषाय शब्द में गर्भित किया गया है,** जिसकी चर्चा विस्तार से हो चुकी है।

अरे भाई ! पण्डित टोडरमलजी तो यहाँ यह कहना चाहते हैं कि **पाँचों इन्द्रियों के माध्यम से जानने-देखने की इच्छा का त्याग विषय का त्याग है और मिथ्यात्वादि कषायभावों के अनुसार कार्य करने की इच्छा के त्याग का नाम कषाय का त्याग है।**

इसीप्रकार पाप और पुण्य के उदयरूप इच्छाओं के संबंध में भी गहरे चिन्तन की आवश्यकता है।

प्रतिकूल संयोगों की प्राप्ति को हम पाप का उदय मानते हैं और अनुकूल संयोगों की प्राप्ति को पुण्य का उदय; पर यहाँ तो पाप कर्म के उदय में प्राप्त **प्रतिकूल संयोगों को दूर करने की इच्छा को पाप का उदय कहा जा रहा है। तात्पर्य यह है कि असली पाप का उदय तो उक्त प्रतिकूल संयोगों को टालने की इच्छा का नाम है।** हम उस इच्छा का अभाव तो करते नहीं, करना भी नहीं चाहते और संयोगों के हटाने के विकल्पों में उलझे रहते हैं; जबकि इनका हटना-न-हटना हमारे हाथ में नहीं है।

इसीप्रकार हम तो पुण्य के उदय से प्राप्त भोग सामग्री को पुण्य का उदय समझते हैं; जबकि यहाँ **उक्त सामग्री को भोगने की इच्छा को पुण्य का उदय कहा गया है** और उस इच्छा का त्याग करने की प्रेरणा दी जा रही है, परन्तु हम तो पुण्य के उदय की कामना करते हैं।

कदाचित् किसी जीव को **पुण्य के उदय से भोगसामग्री प्राप्त हो जाय, कषायों की पूर्ति का प्रसंग बन जाय, मान-सम्मान प्राप्त हो जाय; जिस का वह बुरा चाहता है, कदाचित् उसका बुरा भी हो जाय; सभी प्रकार की इच्छाओं के अनुकूल प्रसंग बन जाये; तब भी वह जीव सुखी नहीं हो सकता; क्योंकि वह सभी प्रकार की इच्छाओं की पूर्ति में एकसाथ प्रवृत्त नहीं हो सकता।**

एक समय में एक प्रकार की अनुकूलता को ही भोग सकता है। इस कारण जिस समय वह एक वस्तु का उपभोग कर रहा है, उसकी अनुकूलता का वेदन न करके, जिन्हें भोगना संभव नहीं हो पा रहा है, उनको न भोग पाने की आकुलता का वेदन करके दु:खी होता रहता है।

दस-दस मकान हैं, एक-एक में अनेक वातानुकूलित कमरे हैं; दस-बीस वातानुकूलित गाड़ियाँ खड़ी हैं; पर जेठ की दुपहरी में विशाल पाण्डाल में सेठ साहब का अभिनंदन हो रहा है। भयंकर गर्मी है, लू चल रही है। बिजली गायब है, अत: पंखे भी बंद हैं; फिर भी सेठ साहब वहाँ

बैठे हैं। यद्यपि मान कषाय का पोषण हो रहा है, पर भयंकर गर्मी की असह्य आकुलता भी हो रही है।

रनों का अंबार लगाता हुआ क्रिकेट का खिलाड़ी बल्लेबाज आनंदित होता हुआ भी पसीने से लथपथ है, उसका गला प्यास से सूखा जा रहा है, शतक बन गया है; पर खेल के मैदान में वह बेहोश हो गया है।

वे देश के प्रधानमंत्री बन गये हैं, चारों ओर जय-जय के नारे लग रहे हैं; पर गाँव-गाँव में घूम-घूम कर चुनाव प्रचार करते हुए पस्त हो गये हैं।

अब आप ही बताइये कि इसप्रकार के पुण्य के उदयवालों को सुखी कहें या दुःखी ?

इसप्रकार हम देखते हैं कि इस प्रकरण में पण्डितजी ने चारों प्रकार की इच्छाओं को समानरूप से दुःखरूप सिद्ध किया है और उन्हें त्यागने की प्रेरणा दी है। अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा है कि **इच्छाएँ मिथ्यात्व, अज्ञान और असंयम से होती हैं और स्वयं दुःखरूप हैं; अतः सभी प्रकार की सभी इच्छाएँ सम्पूर्णतः त्याग करने योग्य हैं।**

इसके बाद मोक्ष सुख और उसकी प्राप्ति का उपाय बताते हुए आचार्य कल्प पण्डित टोडरमलजी लिखते हैं ह्न

''अब जिन जीवों को दुःख से छूटना हो वे इच्छा दूर करने का उपाय करो। तथा इच्छा दूर तब ही होती है; जब मिथ्यात्व, अज्ञान, असंयम का अभाव हो और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति हो। इसलिए इसी कार्य का उद्यम करना योग्य है।

ऐसा साधन करने पर जितनी-जितनी इच्छा मिटे, उतना-उतना दुःख दूर होता जाता है और जब मोह के सर्वथा अभाव से सर्व इच्छा का अभाव हो, तब सर्व दुःख मिटता है, सच्चा सुख प्रगट होता है।

तथा ज्ञानावरण-दर्शनावरण और अन्तराय का अभाव हो, तब इच्छा के कारणभूत क्षायोपशमिक ज्ञान-दर्शन का तथा शक्तिहीनपने का भी अभाव होता है, अनन्त ज्ञान-दर्शन-वीर्य की प्राप्ति होती है तथा कितने

ही काल पश्चात् अघाति कर्मों का भी अभाव हो, तब इच्छा के बाह्य कारणों का भी अभाव होता है; क्योंकि मोह चले जाने के बाद कोई भी कर्म किसी भी काल में कोई इच्छा उत्पन्न करने में समर्थ नहीं थे। मोह के होने पर कारण थे, इसलिए कारण कहे हैं; उनका भी अभाव हुआ, तब जीव सिद्धपद को प्राप्त होते हैं।

वहाँ दुःख का तथा दुःख के कारणों का सर्वथा अभाव होने से सदा-काल अनुपम, अखंडित, सर्वोत्कृष्ट आनन्द सहित विराजमान रहते हैं।[१]''

इसके उपरान्त वे आठों कर्मों के अभाव में प्रगट होनेवाले अनाकुल भावरूप सुख को विस्तार से स्पष्ट करते हैं, एक-एक कर्म के अभाव में किस-किसप्रकार का अनाकुल भाव (सुख) प्रगट होता है ह्न यह समझाते हैं।

ज्ञानावरण और दर्शनावरण के क्षयोपशम से देखना-जानना सीमित होता था और मोह के उदय से सभी को एक साथ देखने-जानने की इच्छा रहती थी। अतः आकुलता होती थी।

अब सिद्धदशा में ज्ञानावरण-दर्शनावरण के क्षय से सभी पदार्थों को देखने-जानने लगा और मोह के अभाव में देखने-जानने की इच्छा का सम्पूर्णतः अभाव हो गया तथा निराकुल भाव सम्पूर्णतः प्रगट हो गया; अतः परम सुखी हो गया।

मोह के उदय से होनेवाले मिथ्यात्वादि कषाय भावों का अभाव होने से मिथ्यात्व और कषायभावों से होनेवाले दुःख का अभाव हो गया।

मिथ्यात्व के अभाव से परपदार्थों में होनेवाली इष्ट-अनिष्ट बुद्धि का अभाव हो गया; इसीप्रकार क्रोध, मान, माया और लोभ कर्म के अभाव से ये भाव भी नहीं रहे।

पापरूप अशुभ नामकर्म, नीच गोत्रकर्म, अशुभ आयुकर्म और असाता वेदनीय कर्म तथा पुण्यरूप शुभ नामकर्म, उच्च गोत्रकर्म, शुभ

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ-७२

आयुकर्म और साता वेदनीय कर्म का अभाव होने से प्रतिकूल-अनुकूल संयोगों का अभाव हो गया; अत: उनसे होनेवाले सांसारिक सुख-दु:ख का भी अभाव हो गया।

इसप्रकार घाति और अघाति कर्मों के अभाव होने से तज्जन्य आकुलता का अभाव हो जाने से सिद्ध भगवान अनंत अतीन्द्रिय आनन्द को प्राप्त हो गये हैं। अत: अब वे अनन्तकाल तक प्रतिसमय अनन्त, अतीन्द्रिय, अव्याबाध आनन्द (सुख) का उपभोग करते रहेंगे।

इसप्रकार इस तीसरे अधिकार का समापन करके अन्त में उपदेश देते हुए, आदेश देते हुए, प्रेरणा देते हुए पण्डित टोडरमलजी लिखते हैं ह्न

''हे भव्य ! हे भाई !! तुझे जो संसार के दु:ख बतलाए सो, वे तुझ पर बीतते हैं या नहीं ह्न यह विचार कर; और तू जो उपाय करता है, उन्हें झूठा बतलाया, सो ऐसे ही हैं या नहीं ह्न यह विचार। तथा सिद्धपद प्राप्त होने पर सुख होता है या नहीं, उसका भी विचार कर।

जैसा कहा है, वैसी ही प्रतीति तुझे आती हो तो तू संसार से छूटकर सिद्धपद प्राप्त करने का हम जो उपाय कहते हैं; वह कर, विलम्ब मत कर।

यह उपाय करने से तेरा कल्याण होगा।[1]''

इसके बाद आनेवाले चौथे अधिकार में पण्डितजी मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र का निरूपण आरंभ करते हैं; जो सातवें अधिकार तक चलेगा; जिसमें अगृहीत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र तथा गृहीत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र का स्वरूप विस्तार से समझाया जायेगा।

'संसार में सर्वत्र दु:ख ही दु:ख हैं, सुख तो एकमात्र मोक्ष में ही है' ह्न विगत अधिकारों में यह सिद्ध करने के उपरान्त अब उक्त **दु:खों के मूलकारण क्या हैं और मुक्ति की प्राप्ति कैसे होती है ?ह्न इस बात पर विचार करते हैं।**

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ-७५

इस बात का संकेत वे इस चौथे अधिकार के मंगलाचरण में ही दे देते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

इस भव के सब दु:खनि के कारण मिथ्याभाव।
तिनकी सत्ता नाश करि प्रगटै मोक्ष उपाव।।

इस संसार के सभी दु:खों के मूल कारण मिथ्याभाव हैं। उनकी सत्ता का नाश होने पर ही मोक्ष का उपाय प्रगट होता है।

मिथ्याभाव का अर्थ है मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र। इन तीनों का एक नाम मिथ्यात्व है।

ध्यान रहे मिथ्यात्व शब्द का प्रयोग अकेले मिथ्यादर्शन के अर्थ में भी होता है और मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र ह्न इन तीनों के समुदाय के रूप में भी होता है।

इसीप्रकार सम्यक्त्व शब्द के अर्थ के संदर्भ में भी समझना चाहिए। अकेले सम्यग्दर्शन के अर्थ में भी सम्यक्त्व शब्द का प्रयोग देखा जाता है और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ह्न इन तीनों के समुदाय के रूप में भी होता है।

इसप्रकार हम कह सकते हैं कि मिथ्यात्व अनंत दु:ख (संसार) का कारण है और सम्यक्त्व अनंत सुख (मोक्ष) का कारण है।

विगत अधिकारों की भांति इस अधिकार के आरंभ में भी वे रोगी और वैद्य के उदाहरण से अपनी बात स्पष्ट करते हैं।

विगत अधिकारों में रोग के स्वरूप का निदान किया गया था और अब उसके कारण की चर्चा चल रही है, वदपरहेजी की बात चल रही है। इसीप्रकार विगत अधिकारों में दु:ख के स्वरूप का निदान किया गया था और अब यहाँ उसके कारणों की मीमांसा की जा रही है।

अपनी कथन शैली का औचित्य सिद्ध करते हुए पण्डित टोडरमलजी लिखते हैं कि जिसप्रकार वैद्य रोग के कारणों को विशेषरूप से बताये तो रोगी कुपथ्य का सेवन न करे, वदपरहेजी से बचे तो रोग रहित हो जावे;

उसीप्रकार सद्गुरु संसार के कारणों का विशेषरूप से निरूपण करते हैं; जिससे संसारी जीव मिथ्यात्वादि कुपथ्य का सेवन नहीं करे तो सांसारिक दु:खों से बच सकते हैं। यही कारण है कि यहाँ मिथ्याभावों का विशेष निरूपण आरंभ किया जा रहा है।

यहाँ कोई कह सकता है कि आपने तो मोक्ष के मार्ग पर प्रकाश डालने की प्रतिज्ञा की थी; पर यहाँ संसार के कारणों की चर्चा में उलझ कर ही रह गये हैं। आप तो हमें एकमात्र मुक्ति का उपाय बताइये, संसार के कारणों को जानकर हम क्या करेंगे ?

इसप्रकार के विचार व्यक्त करनेवालों से पण्डितजी कहते हैं कि जिसप्रकार जबतक यह प्राणी वदपरहेजी नहीं छोड़ेगा, कुपथ्य का सेवन करना नहीं छोड़ेगा; तबतक इसे दी गई दवाइयाँ भी कुछ नहीं कर सकतीं।

उसीप्रकार जबतक यह जीव मिथ्यात्वादि भावों को नहीं छोड़ेगा; तबतक बाह्य सदाचरण भी कुछ कार्यकारी नहीं होगा।

यही कारण है कि मुक्ति का उपाय बताने के पूर्व संसार के कारणों की मीमांसा की जा रही है।

जिसप्रकार रोगों के कुछ कारण तो वंशानुगत होते हैं और कुछ वदपरहेजी रूप होते हैं; उसीप्रकार दु:खों के कुछ कारण तो अनादिकालीन होते हैं और कुछ कारण वर्तमान गल्तियों के रूप में पाये जाते हैं।

अगृहीत मिथ्यात्वादि तो अनादिकालीन हैं और गृहीत मिथ्यात्वादि वर्तमानकालीन गल्तियों के परिणाम हैं।

इस ग्रंथ मोक्षमार्गप्रकाश के आरंभ में ही कर्मबंधनिदान के प्रकरण में कर्मबंधन को अनादि सिद्ध करते हुए आत्मा के साथ ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों का एकक्षेत्रावगाह और मोह-राग-द्वेषरूप भावकर्मों का क्षणिक तादात्मरूप संबंध बताया है। मोह-राग-द्वेष में मोह शब्द दर्शनमोह के अर्थ में लेने से मिथ्यात्व तथा राग-द्वेष शब्द चारित्रमोह के सूचक होने से २५ कषायें ह्न इसप्रकार मिथ्यात्व और कषायें इस आत्मा में अनादि से

ही हैं। इसका आशय तो यही हुआ कि इस आत्मा में मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र अनादि से ही हैं।

गृहीत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र तो सैनी पंचेन्द्रियों के ही होने से अनादि से हो नहीं सकते हैं। अत: यह सहज सिद्ध ही है कि अनादि से होनेवाले मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र नियम से अगृहीत ही होने चाहिए।

अगृहीत माने अनादिकालीन और गृहीत माने कुदेवादिक के निमित्त से नये ग्रहण किये हुए मिथ्यादर्शनादि।

जिसप्रकार सम्यग्दर्शन निसर्गज और अधिगमज के भेद से दो प्रकार का होता है; उसीप्रकार मिथ्यादर्शन भी अगृहीत और गृहीत के भेद से दो प्रकार का है। जिसप्रकार निसर्गज सम्यग्दर्शन में परोपदेश की मुख्यता नहीं होती; उसीप्रकार **अगृहीत मिथ्यादर्शन में भी परोपदेश की आवश्यकता नहीं होती।**

इसीप्रकार जैसे अधिगमज सम्यग्दर्शन में सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का उपदेश निमित्त होता है; उसीप्रकार गृहीत मिथ्यादर्शन में कुदेव, कुशास्त्र और कुगुरु का उपदेश निमित्त होता है।

सम्यग्दर्शन के समान मिथ्यादर्शन को भी निसर्गज (अगृहीत) और अधिगमज (गृहीत) कह सकते हैं। छहढाला में दौलतरामजी ने इसप्रकार का प्रयोग किया भी है, वे लिखते हैं ह्न

यों मिथ्यात्वादि निसर्ग जेह, अब जे गृहीत सुनिये सु तेह।[1]

उक्त पंक्ति में अगृहीत मिथ्यादर्शनादि को निसर्ग शब्द से अभिहित किया गया है।

इस चौथे अधिकार में अगृहीत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्या-चारित्र की चर्चा है और पाँचवें, छठवें और सातवें अधिकार में गृहीत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र का विवेचन किया जायेगा।

पाँचवें अधिकार में जैनेतर गृहीत मिथ्यादृष्टियों की, छठवें अधिकार

१. छहढाला : दूसरी ढाल, छन्द-८

में जैनों में पायी जानेवाली कुदेवादि की प्रवृत्तिरूप गृहीत मिथ्यादर्शनादि की और सातवें अधिकार में जैनियों में ही पाई जानेवाली तात्त्विक भूलों संबंधी गृहीत मिथ्यात्वादि की चर्चा है।

कुछ लोगों का कहना है कि पाँचवें व छठवें अधिकार में गृहीत मिथ्यात्वादि का और सातवें अधिकार में अगृहीत मिथ्यात्वादि का निरूपण है; क्योंकि उनके अनुसार जैनियों के तो गृहीत मिथ्यात्वादि हो ही नहीं सकते। उनका कहना यह है कि जब कुदेव, कुशास्त्र और कुगुरु जैनियों में होते ही नहीं; तब जैनियों को कुदेव, कुशास्त्र और कुगुरुओं के निमित्त से होनेवाला गृहीत मिथ्यात्व कैसे हो सकता है ?

उनका यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि अगृहीत मिथ्यात्व अनादि-कालीन होता है; इसकारण एकेन्द्रियादि पर्यायों में भी पाया जाता है; किन्तु गृहीत मिथ्यात्व कुदेव, कुशास्त्र और कुगुरु के निमित्त से बुद्धिपूर्वक ग्रहण किया जाता है; अत: सैनी पंचेन्द्रियों के ही होता है। सैनी पंचेन्द्रियों में भी विशेष कर मनुष्यों में, मनुष्यों में भी कर्मभूमि के मनुष्यों में ही पाया जाता है।

भले ही उनकी मान्यता के अनुसार जैनियों में कुदेव, कुशास्त्र और कुगुरु न होते हों; पर आज के जैनियों में बुद्धिपूर्वक स्वीकार की गईं तात्त्विक भूलें और देव-शास्त्र-गुरु संबंधी गलत मान्यताएँ तो पाई ही जाती हैं। **अरे, भाई ! हम यह क्यों भूल जाते हैं कि जैनियों में भी तो मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी मुनि होते हैं। जैनियों में भी ऐसे अनेक मत-मतान्तर हो गये हैं; जिनकी देव-शास्त्र-गुरु संबंधी मान्यताएँ वीतरागता के विरुद्ध हैं। अत: यह कहने में क्या दम है कि जैनियों में देव-शास्त्र-गुरु संबंधी मिथ्या मान्यता नहीं है या कुदेव, कुशास्त्र और कुगुरु नहीं हैं।**

यदि हम और अधिक स्पष्ट करें तो कह सकते हैं कि मुख्यरूप से पाँचवें अधिकार में जैनेतरों के साथ श्वेताम्बर जैनों के, छठवें अधिकार में दिगम्बरों में बीसपंथी दिगम्बरों के और सातवें अधिकार में तेरापंथी दिगम्बरों में पाये जानेवाले गृहीत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्या-चारित्र का निरूपण है।

इस पर कुछ लोग कहते हैं कि पण्डितश्री टोडरमलजी ने किसी को भी नहीं छोड़ा; न श्वेताम्बरों को, न दिगम्बरों को; न बीस पंथियों को, न तेरापंथियों को; सभी की जमकर धुनाई की है।

अरे, भाई ! उन्होंने तो किसी की भी धुनाई नहीं की, उन्होंने तो सभी जीवों पर, सभी जैनियों पर अनंत करुणा करके, उनकी उन गंभीर भूलों की ओर ध्यान आकर्षित किया है कि जिन भूलों के कारण वे आत्महितकारी सर्वोत्कृष्ट जैनधर्म पाकर भी आत्महित से वंचित हैं, अनंत दु:ख उठा रहे हैं।

वे तो सच्चे हृदय से यह चाहते थे कि सभी जीव अपनी भूल सुधार कर सन्मार्ग पर लगें और अनंत सुख की प्राप्ति करें। लगभग प्रत्येक अधिकार के अन्त में प्रगट किये गये उनके उद्गारों से यह बात अत्यन्त स्पष्ट है।

उक्त संदर्भ में अपनी उत्कृष्ट भावना व्यक्त करते हुए वे लिखते हैं ह्न

''यहाँ नानाप्रकार के मिथ्यादृष्टियों का कथन किया है। उसका प्रयोजन यह जानना कि उन प्रकारों को पहिचानकर **अपने में ऐसा दोष हो तो उसे दूर करके सम्यक्श्रद्धानी होना, औरों के ही ऐसे दोष देख-देखकर कषायी नहीं होना; क्योंकि अपना भला-बुरा तो अपने परिणामों से है। औरों को तो रुचिवान देखें तो कुछ उपदेश देकर उनका भी भला करें।**

इसलिए अपने परिणाम सुधारने का उपाय करना योग्य है; सर्वप्रकार के मिथ्यात्वभाव छोड़कर सम्यग्दृष्टि होना योग्य है; क्योंकि संसार का मूल मिथ्यात्व है, मिथ्यात्व के समान अन्य पाप नहीं है।[1]''

ध्यान रहे यह गृहीत मिथ्यात्व, अगृहीत मिथ्यादृष्टियों को ही होता है। जिनके अगृहीत मिथ्यात्व नहीं है, उनके गृहीत मिथ्यात्व भी नहीं

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ-२६६-२६७

होता। तात्पर्य यह है कि जिसे गृहीत मिथ्यात्व है, उसे अगृहीत मिथ्यात्व तो होता ही है; पर सभी अगृहीत मिथ्यादृष्टियों को गृहीत मिथ्यात्व हो ही ह्न यह आवश्यक नहीं है।

अरे, भाई ! यह गृहीत मिथ्यात्व अमूल्य नर भव को बरबाद करनेवाली मनुष्यगति की नई कमाई है।

आश्चर्य तो इस बात का है; जो मनुष्य भव, भव को काटने के काम आ सकता था; वह अमूल्य मनुष्य भव गृहीत मिथ्यात्व के चक्कर में पड़कर स्व-पर के भव बढ़ाने का काम कर रहा है।

यह गृहीत मिथ्यादर्शनादि अनादिकालीन अगृहीत मिथ्यादर्शनादि को पुष्ट करते हैं।

महाशास्त्र तत्त्वार्थसूत्र में 'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ह्न तत्त्वार्थों का श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है' ह्न ऐसा कहकर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए जीवादि प्रयोजनभूत तत्त्वार्थों के परिज्ञानपूर्वक सम्यक् श्रद्धान को आवश्यक बताया गया है। यही कारण है कि महापण्डित टोडरमलजी इस मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रन्थ में उनका विवेचन विस्तार से करना चाहते थे।

जीवादि नव तत्त्वार्थों का निरूपण उन्होंने नौवें अधिकार में आरंभ भी किया था; परन्तु हम सभी के दुर्भाग्य से वह लिखा नहीं जा सका।

यद्यपि जीवादि तत्त्वार्थों का विशद विवेचन वे नहीं लिख सके; तथापि मोक्षमार्गप्रकाशक जिस रूप में हमें आज उपलब्ध है, उसमें उन्होंने बहुत विस्तार से यह स्पष्ट कर दिया कि जीवादि पदार्थों को समझने में हमसे किस-किसप्रकार की, क्या-क्या भूलें होती रही हैं।

इन भूलों की चर्चा उन्होंने दो स्थानों पर की है। चौथे अधिकार में अगृहीत मिथ्यादर्शन की अपेक्षा और सातवें अधिकार में गृहीत मिथ्यादर्शन की अपेक्षा। अभी हम चौथे अधिकार में समागत जीवादि तत्त्वार्थों संबंधी भूलों की चर्चा कर रहे हैं।

आत्महितकारी प्रयोजनभूत तत्त्वों का अयथार्थ श्रद्धान ही अगृहीत मिथ्यादर्शन है और इनका यथार्थ श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है। अत: सर्वप्रथम प्रयोजनभूत तत्त्वों को जानना अति आवश्यक है। यही कारण है कि चौथे अधिकार में पण्डितजी प्रयोजनभूत तत्त्वों का स्वरूप स्पष्ट करते हैं।

वे लिखते हैं ह्न ''यहाँ कोई पूछे कि प्रयोजनभूत और अप्रयोजनभूत पदार्थ कौन हैं ?

समाधान ह्न इस जीव को प्रयोजन तो एक यही है कि दु:ख न हो और सुख हो। किसी जीव के अन्य कुछ भी प्रयोजन नहीं है। तथा दु:ख का न होना, सुख का होना एक ही है; क्योंकि दु:ख का अभाव वही सुख है और इस प्रयोजन की सिद्धि जीवादिक का सत्य श्रद्धान करने से होती है। कैसे ? सो कहते हैं ह्न

प्रथम तो दु:ख दूर करने में आपापर का ज्ञान अवश्य होना चाहिए। यदि आपापर का ज्ञान नहीं हो तो अपने को पहिचाने बिना अपना दु:ख कैसे दूर करे ? अथवा **आपापर को एक जानकर अपना दु:ख दूर करने के अर्थ पर का उपचार करे तो अपना दु:ख दूर कैसे हो ?**

अथवा अपने से पर भिन्न हैं, परन्तु यह पर में अहंकार-ममकार करे तो उससे दु:ख ही होता है। **आपापर का ज्ञान होने पर ही दु:ख दूर होता है। तथा आपापर का ज्ञान जीव-अजीव का ज्ञान होने पर ही होता है; क्योंकि आप स्वयं जीव हैं, शरीरादिक अजीव हैं।**

यदि लक्षणादि द्वारा जीव-अजीव की पहिचान हो तो अपनी और पर की भिन्नता भासित हो; इसलिए जीव-अजीव को जानना।

अथवा जीव-अजीव का ज्ञान होने पर, जिन पदार्थों के अन्यथा श्रद्धान से दु:ख होता था, उनका यथार्थ ज्ञान होने से दु:ख दूर होता है; इसलिए जीव-अजीव को जानना।

तथा दु:ख का कारण तो कर्म बन्धन है और उसका कारण

मिथ्यात्वादिक आस्रव हैं। यदि इनको न पहिचाने, इनको दु:ख का मूल कारण न जाने तो इनका अभाव कैसे करे ? और इनका अभाव नहीं करे तो कर्मबंधन कैसे नहीं हो ? इसलिए दु:ख ही होता है। अथवा मिथ्यात्वादिक भाव हैं सो दु:खमय हैं। यदि उन्हें ज्यों का त्यों नहीं जाने तो उनका अभाव नहीं करे, तब दु:खी ही रहे; इसलिए आस्रव को जानना।

तथा समस्त दु:ख का कारण कर्मबन्धन है। यदि उसे न जाने तो उससे मुक्त होने का उपाय नहीं करे, तब उसके निमित्त से दु:खी हो; इसलिए बन्ध को जानना।

तथा आस्रव का अभाव करना सो संवर है। उसका स्वरूप न जाने तो उसमें प्रवर्तन नहीं करे, तब आस्रव ही रहे, उससे वर्तमान तथा आगामी दु:ख ही होता है; इसलिए संवर को जानना।

तथा कथंचित् किंचित् कर्मबन्ध का अभाव करना उसका नाम निर्जरा है। यदि उसे न जाने तो उसकी प्रवृत्ति का उद्यमी नहीं हो, तब सर्वथा बन्ध ही रहे, जिससे दु:ख ही होता है; इसलिए निर्जरा को जानना।

तथा सर्वथा सर्व कर्मबन्ध का अभाव होना उसका नाम मोक्ष है। यदि उसे नहीं पहिचाने तो उसका उपाय नहीं करे, तब संसार में कर्मबन्ध से उत्पन्न दु:ख को ही सहे; इसलिए मोक्ष को जानना।

इसप्रकार जीवादि सात तत्त्व जानना।

तथा शास्त्रादि द्वारा कदाचित् उन्हें जाने, परन्तु ऐसे ही हैं ह्र ऐसी प्रतीति न आयी तो जानने से क्या हो ? इसलिए उनका श्रद्धान करना कार्यकारी है। **ऐसे जीवादि तत्त्वों का सत्य श्रद्धान करने पर ही दु:ख होने का अभावरूप प्रयोजन की सिद्धि होती है। इसलिए जीवादिक पदार्थ हैं, वे ही प्रयोजनभूत जानना।**

तथा इनके विशेष भेद पुण्य-पापादिरूप हैं, उनका भी श्रद्धान प्रयोजनभूत है; क्योंकि सामान्य से विशेष बलवान है।

इसप्रकार ये पदार्थ तो प्रयोजनभूत हैं, इसलिए इनका यथार्थ श्रद्धान करने पर तो दु:ख नहीं होता, सुख होता है; और इनका यथार्थ श्रद्धान किए बिना दु:ख होता है, सुख नहीं होता।

तथा इनके अतिरिक्त अन्य पदार्थ हैं, वे अप्रयोजनभूत हैं; क्योंकि उनका यथार्थ श्रद्धान करो या मत करो, उनका श्रद्धान कुछ सुख-दु:ख का कारण नहीं है।[१]''

आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी की उक्त पंक्तियों से यह अत्यन्त स्पष्ट है कि अनंत दु:खों से मुक्ति के लिए जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष तथा पुण्य और पाप ह्र इन नौ तत्त्वार्थों को जानना और वे जैसे हैं; उन्हें वैसा ही जानकर श्रद्धान करना ही प्रयोजनभूत है; क्योंकि इन्हें यथार्थ जानकर इनका श्रद्धान करना ही सम्यग्दर्शन है, सम्यग्ज्ञान है।

मिथ्यादर्शनादि का यह अगृहीत और गृहीत संबंधी विवेचन जिस रूप में और जितने विस्तार से इस मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रन्थ में प्राप्त होता है, उस रूप में और उतने विस्तार से इसके पहले उपलब्ध नहीं होता।

यद्यपि इसके बीज आगम में यत्र-तत्र सर्वत्र बिखरे हुए प्राप्त हो जायेंगे; तथापि मोक्षमार्गप्रकाशक के समान व्यवस्थितरूप में देखने में अभी तक नहीं आये।

अत: यदि हम यह कहें कि यह पण्डित टोडरमलजी का मौलिक प्रस्तुतीकरण है तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

परवर्ती साहित्यकारों ने इनका अनुकरण किया है। विशेषकर पण्डित श्री दौलतरामजी ने अपनी अमर कृति छहढाला में इस प्रस्तुतीकरण का भरपूर उपयोग किया है और मोक्षमार्गप्रकाशक के इस प्रकरण को पद्य के रूप में अति संक्षेप में सशक्तरूप से प्रस्तुत कर दिया है।

पण्डित दौलतरामजी की छहढाला एक ऐसी कृति है, जिसकी पकड़

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ-७८-७९

जन-जन तक है और वह न केवल अध्यात्मप्रेमी, अपितु सम्पूर्ण जैन समाज में लगभग सभी को कण्ठस्थ है।

छहढाला के प्रभाव से मिथ्यादर्शनादि का यह अगृहीत-गृहीत संबंधी वर्गीकरण भी सभी के लिए अति परिचित विषय हो गया है।

अत: किसी को ऐसा लगता ही नहीं कि यह वर्गीकरण महापण्डित टोडरमलजी के पूर्व सहज प्राप्त नहीं होता।

पदार्थों का प्रयोजनभूत और अप्रयोजनभूतरूप में वर्गीकरण भी पण्डित टोडरमलजी की ऐसी विशेषता है कि जो उनके पूर्व देखने को नहीं मिलती। समयसार गाथा ११ व १३ में भूतार्थ और अभूतार्थ की चर्चा अवश्य है, पर वह नयों के संदर्भ में है। कहा गया है कि व्यवहारनय अभूतार्थ हैं और शुद्धनय (निश्चयनय) भूतार्थ हैं। यह भी कहा गया है कि भूतार्थनय से जाने हुए नवतत्त्व ही सम्यग्दर्शन हैं।

'भूतार्थ' पद 'भूत' और 'अर्थ' ह्न इन दो शब्दों से मिलकर बना है। 'भूतार्थ' पद के उक्त दोनों शब्दों का स्थान परिवर्तन कर दें तो अर्थभूत पद बनेगा। 'अर्थ' शब्द का अर्थ 'प्रयोजन' भी होता है; इसलिए 'भूतार्थ' पद का अर्थ 'प्रयोजनभूत' ही हो जाता है।

यहाँ मोक्षमार्गप्रकाशक में जीवादि प्रयोजनभूत पदार्थों के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा जा रहा है और समयसार में भूतार्थनय से जाने हुए जीवादि तत्त्वों के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है। ●

> जैनदर्शन में नि:स्वार्थ भाव की भक्ति है। उसमें किसी भी प्रकार की कामना को कोई स्थान प्राप्त नहीं है। जैनदर्शन के भगवान तो वीतरागी, सर्वज्ञ और हितोपदेशी होते हैं। वे किसी को कुछ देते नहीं हैं, मात्र सुखी होने का मार्ग बता देते हैं। जो व्यक्ति उनके बताये मार्ग पर चले, वह स्वयं भगवान बन जाता है। अत: जिनेन्द्र भगवान की भक्ति उन जैसा बनने की भावना से ही की जाती है। ह्न आत्मा ही है शरण, पृष्ठ-२१३

पाँचवाँ प्रवचन

मोक्षमार्गप्रकाशक नामक शास्त्र में प्रतिपादित विषयवस्तु की चर्चा चल रही है। चौथे प्रवचन में चतुर्थ अधिकार में समागत विषयवस्तु की आरंभिक चर्चा हुई; जिसमें संसार के दु:खों के कारण के रूप में अगृहीत मिथ्यादर्शन का स्वरूप स्पष्ट किया जा रहा है।

अबतक यह स्पष्ट किया गया है कि जीवादि तत्त्वार्थों का श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है। अत: सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए जीवादि तत्त्वार्थों को जानना अत्यन्त आवश्यक है।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि जीवादि तत्त्वार्थों में तो सम्पूर्ण जगत आ जाता है। जीव में सभी जीव आ गये; अजीव में पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल सभी अजीव द्रव्य आ गये। आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष तथा पुण्य-पाप में जीव की सभी विकारी और अविकारी पर्यायें आ गईं। पुद्गल में भी पुद्गल की अनेक पर्यायें आ गईं। एक तरह से सम्पूर्ण जगत ही आ गया। इतना सब जानना तो केवलज्ञानी के ही हो सकता है। तो क्या सम्यग्दर्शन केवलज्ञान होने के बाद होगा ?

इसी प्रश्न के स्पष्टीकरण में ही तो पण्डित टोडरमलजी ने तत्त्वों के साथ 'प्रयोजनभूत' पद का प्रयोग किया है। तात्पर्य यह है कि यहाँ सभी द्रव्यों को, सभी गुण और पर्यायों के साथ युगपत् जानने की बात नहीं है; यहाँ तो जिन गुण और पर्यायों के साथ जीवादि को जानना आत्महित की दृष्टि से प्रयोजनभूत है, मात्र उन्हें ही जानना है, सबको नहीं।

अनन्त जीव, अनन्तानन्त पुद्गल, एक धर्म, एक अधर्म, एक आकाश और असंख्यात कालाणु ह्न इसप्रकार इस लोक में छह प्रकार के अनन्तानंत द्रव्य हैं। प्रत्येक द्रव्य में अनन्त गुण हैं, प्रत्येक गुण में अनन्तानंत पर्यायें हैं। अनेक द्रव्यों के संयोगरूप अनंत द्रव्य पर्यायें हैं। आगम के आधार से

इतनी बात तो हमारे मति-श्रुतज्ञान में आ जाती है; पर प्रत्येक द्रव्य और उनके गुणों की किस समय कौन-सी पर्याय होगी ह्न यह तो केवलज्ञानी ही जानते हैं, जान सकते हैं।

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए तो उक्त वस्तुव्यवस्था का आगमानुसार सामान्य ज्ञान ही पर्याप्त है। वह भी, हो तो ठीक, न हो तो भी कोई बात नहीं; पर आत्मा के कल्याण के लिए प्रयोजनभूत तत्त्वों की सामान्य जानकारी अत्यन्त आवश्यक है।

'अगृहीत मिथ्यादृष्टि जीव इन तत्त्वार्थों के संबंध में क्या जानते हैं, वे इन्हें कैसा मानते हैं और उनकी प्रवृत्ति कैसी होती है' ह्न पण्डितजी यहाँ इस बात को विस्तार से समझाते हैं।

यह अगृहीत मिथ्यादृष्टि जीव, एक अपना आत्मा और अनंत पुद्गल परमाणु के पिण्डरूप शरीर ह्न इन सबकी मिली हुई इस मनुष्य पर्याय में अहंबुद्धि (एकत्वबुद्धि) और ममत्वबुद्धि (स्वामित्वबुद्धि) धारण करता है, कर्त्तृत्व और भोक्तृत्वबुद्धि धारण करता है अर्थात् यह मानता है कि बस यही मैं हूँ, मैं ही इस मनुष्य पर्याय का स्वामी हूँ और मैं ही इसका कर्त्ता-भोक्ता हूँ। इसकी ऐसी मान्यता ही जीव और अजीवतत्त्व संबंधी अयथार्थ श्रद्धान है, जीव-अजीव तत्त्व संबंधी भूल है।

किसी वस्तु के बारे में ऐसा मानना कि 'यह मैं ही हूँ' ह्न अहंबुद्धि है, एकत्वबुद्धि है; यह मानना कि 'यह मेरी है' ह्न ममत्वबुद्धि है, स्वामित्वबुद्धि है; ऐसा मानना कि 'मैं इसका कर्ता हूँ' ह्न कर्तृत्वबुद्धि है और ऐसा मानना कि 'मैं इसका भोक्ता हूँ' ह्न भोक्तृत्वबुद्धि है।

यह मनुष्यपर्याय एक प्राइवेट लिमिटेड कम्पनी है, जिसके अनंत शेयर हैं। उनमें इस जीव का मात्र एक शेयर है; फिर भी यह स्वयं को कम्पनी का मालिक समझता है; कर्त्ता-धर्ता समझता है।

यह तो ऐसा ही हुआ कि किसी लाखों शेयर वाली कम्पनी का एक शेयर खरीद कर कोई स्वयं को उसका मालिक समझने लगे, उसका कर्त्ता-धर्त्ता समझने लगे तो क्या वह उसका मालिक हो जायेगा, उस

कंपनी का कर्त्ता-धर्त्ता हो जायेगा। यदि नहीं तो फिर मैं देह और जीव के पिण्डरूप शरीर का स्वामी या कर्त्ता-धर्त्ता कैसे हो सकता हूँ ?

जिसप्रकार उस कंपनी में एक शेयरवाले की कुछ भी नहीं चलती; उसीप्रकार इस मनुष्यदेह पर हमारी भी कुछ नहीं चलती। इस देह को जब जैसा परिणमना होता है, तब वैसा परिणमती है, इसमें हमारा किया कुछ भी नहीं होता। इसके एक बाल पर भी तो हमारी कुछ नहीं चलती। उस बाल को जबतक काला रहना होता है, तबतक काला रहता है और जब सफेद होना होता है, सफेद हो जाता है। जबतक रहना होता है, तबतक हमारे सिर पर सवार रहता है और जब जाना होता है, बिना अनुमति के ही चला जाता है। इसमें हमारी मर्जी से कुछ भी नहीं होता; फिर भी यह अगृहीत मिथ्यादृष्टि जीव इसमें एकत्व, ममत्व, कर्त्तृत्व और भोक्तृत्व धारण करता है। इसकी इसी मान्यता का नाम ही अगृहीत मिथ्यादर्शन है, ऐसा ही जानने का नाम अगृहीत मिथ्याज्ञान और इसकी यह वृत्ति और प्रवृत्ति ही मिथ्याचारित्र है।

यह अगृहीत मिथ्यादृष्टि जीव शरीर की अपेक्षा ही अन्य वस्तुओं में अपनापन करता है, उनका स्वामी और कर्त्ता-भोक्ता बनता है। जिनसे यह शरीर उत्पन्न हुआ, उन्हें माता-पिता मानता है; इसके शरीर से जो उत्पन्न हुए हों, उन्हें पुत्र-पुत्री मानता है; जो इस शरीर को रमण कराये, उसे रमणी (पत्नी) मानता है। इस शरीर के उपकारी को मित्र और अपकारी को शत्रु मानता है।

अधिक क्या कहें ह्न जितने भी संबंध स्वीकार करता है, वे सब इस शरीर के आधार पर ही स्वीकार करता है। इसप्रकार इस शरीर और अपने को एक मानता है। इसकी यह मान्यता ही इसकी जीव-अजीव तत्त्व संबंधी भूल है।

उक्त संदर्भ में पण्डितजी ने बहुत विस्तार से चर्चा की, जो मूलत: पठनीय है। नमूने के रूप में उसका कुछ अंश प्रस्तुत है ह्न

''तथा शरीर के परमाणुओं का मिलना-बिछुड़ना आदि होने से

अथवा उनकी अवस्था पलटने से या शरीर के स्कन्ध के खण्ड आदि होने से स्थूल-कृशादिक, बाल-वृद्धादिक अथवा अंगहीनादिक होते हैं और उनके अनुसार अपने प्रदेशों का संकोच-विस्तार होता है; यह सबको एक मानकर मैं स्थूल हूँ, मैं कृश हूँ, मैं बालक हूँ, मैं वृद्ध हूँ, मेरे इन अंगों का भंग हुआ है ह्न इत्यादिरूप मानता है।

तथा शरीर की अपेक्षा गति कुलादिक होते हैं, उन्हें अपना मानकर मैं मनुष्य हूँ, मैं तिर्यंच हूँ, मैं क्षत्रिय हूँ, मैं वैश्य हूँ ह्न इत्यादिरूप मानता है। तथा शरीर का संयोग होने और छूटने की अपेक्षा जन्म-मरण होता है; उसे अपना जन्म-मरण मानकर मैं उत्पन्न हुआ, मैं मरूँगा ह्न ऐसा मानता है।[१]''

अहंबुद्धि, ममत्वबुद्धि, कर्तृत्वबुद्धि और भोक्तृत्वबुद्धि की चर्चा समयसार में भी आई है; किन्तु **महापण्डित टोडरमलजी ने इनके अतिरिक्त भी एक भ्रमबुद्धि की चर्चा की है; जो अन्यत्र देखने में नहीं आती। यह उनका मौलिक चिन्तन है।** यह अगृहीत मिथ्यादृष्टि जीव शरीर के संदर्भ में कभी तो यह कहता है कि **'मैं गोरा हूँ, कृष हूँ' और कभी कहता है कि मेरा शरीर गोरा है, कृष है ह्न इसप्रकार शरीर में कभी अहंबुद्धि करता है और कभी ममत्वबुद्धि करता है; भ्रम में पड़ा है; अत: निर्णय नहीं कर पाता कि शरीर मैं हूँ या शरीर मेरा है। यह उसकी भ्रमबुद्धि है।**

जिनको अत्यन्त अल्पज्ञान है ह्न ऐसे एकेन्द्रियादि जीव भी इस अगृहीत मिथ्यात्व से ग्रस्त हैं और देहपिण्ड में अहंबुद्धि धारण किये रहते हैं।

इस बात को स्पष्ट करते हुए पण्डितजी लिखते हैं कि ह्न

''इन्द्रियादिक के नाम तो यहाँ कहे हैं, परन्तु इसे तो कुछ गम्य नहीं है। अचेत हुआ पर्याय में अहंबुद्धि धारण करता है।

उसका कारण क्या है ? वह बतलाते हैं ह्न इस आत्मा को अनादि से इन्द्रियज्ञान है; उससे स्वयं अमूर्तिक है, वह तो भासित नहीं होता; परन्तु शरीर मूर्तिक है, वही भासित होता है। और आतमा किसी को आपरूप

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ-८१

जानकर अहंबुद्धि धारण करे ही करे, सो जब स्वयं पृथक् भासित नहीं हुआ, तब उनके समुदायरूप पर्याय में ही अहंबुद्धि धारण करता है।[१]''

आत्मा में एक श्रद्धा नाम का गुण है, जिसका काम ही यह है कि वह किसी न किसी में अहंबुद्धि धारण करे ही करे, किसी न किसी में अपनापन स्थापित करे ही करे और इस आत्मा में एक ज्ञानगुण है, जिसका काम स्व-पर को जानना है। जगत में ऐसा कोई पदार्थ नहीं है कि जिसे जानने का सामर्थ्य इस जीव में न हो। ध्यान रहे यह श्रद्धा गुण ज्ञान गुण का अनुसरण करता है। अत: ज्ञान में जो जानने में आता है, अथवा ज्ञान जिसे निजरूप से जानता है; श्रद्धा गुण उसी में अपनापन स्थापित कर लेता है, उसी में अहंबुद्धि धारण कर लेता है।

अनादि से इस आत्मा को जो भी जानने में आता रहा है, वह सब इन्द्रियों के माध्यम से ही आता रहा है और इन्द्रियाँ मात्र रूप, रस, गंध और स्पर्शवाले पुद्गल को जानने में ही निमित्त होती हैं।

इस जीव के अत्यन्त नजदीक पौद्गलिक पदार्थ यह शरीर ही है; अत: सदा वही जानने में आता रहता है; यही कारण है कि वह इसमें अपनापन स्थापित कर लेता है।

एक गाय ने अभी-अभी एक बछडे को जन्म दिया। वह बहुत भूखा है; अत: उसे भोजन की तलाश है। यद्यपि वह जानता है कि उसके खाने की समुचित व्यवस्था यहीं-कहीं आसपास ही है तथा वह यह भी जानता है कि उसका भोजन उसकी माँ के स्तनों में है, पर वह अपनी माँ को पहिचानता नहीं है।

यद्यपि उसे गाय, माँ, स्तन आदि शब्दों का ज्ञान नहीं है; तथापि तत्संबंधी भाव का भासन अवश्य है।

जहाँ उसका जन्म हुआ है; वहाँ उसकी माँ के साथ, उसी जाति की अनेक गायें खड़ी हैं। अत: वह किसी भी गाय के पास जाता है, पर कोई

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ-८१

गाय उसे प्रेम से नहीं अपनाती। उसे अपनी माँ की तलाश है, पर करे क्या ? क्योंकि उसने अभी तक अपनी माँ की शक्ल नहीं देखी है, जाने तो जाने कैसे ?

वह असमंजस में ही था कि उनमें से एक गाय उसे चाँटने लगी तो वह समझ गया कि यही उसकी माँ है और वह उसमें अपना भोजन तलाशने लगा। उसे इतना तो पता था कि यहीं-कहीं माँ के पैरों के बीच ही उसका भोजन है; अत: वह आगे के पैरों के बीच मुँह मारने लगा। आखिर किसी के सहयोग के बिना ही वह सही जगह पर पहुँच गया और दूध पीने लगा।

'जो चाँटे, वही माँ है' ह्न इस सिद्धान्त के आधार पर उसने अपनी माँ को तलाश लिया। इसीप्रकार **जो पौद्गलिक शरीर इस जीव के ज्ञान में आया; इसने सहज ही उसमें अपनापन स्थापित कर लिया। यही उसकी जीव-अजीव तत्त्व संबंधी भूल है और यही इसका अगृहीत मिथ्या-दर्शन है।**

इसप्रकार हम देखते हैं कि यह अगृहीत मिथ्यादृष्टि जीव अनादिकाल से ही देह में अपनापन धारण किये है, उसी में रचा-पचा है, उसी की संभाल में व्यस्त है, उसके लिए सबकुछ करने को तैयार रहता है, भक्ष्य-अभक्ष्य का विचार किये बिना चाहे जो कुछ खाने लगता है।

एक तो इसकी ऐसी वृत्ति और प्रवृत्ति सहज ही है और फिर ऐसी शिक्षा देनेवाले लोग भी सहज मिल जाते हैं कि जो कहते हैं कि 'काया राखे धरम है', 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम् ह्न शरीर ही एकमात्र धर्म का साधन है' इसलिए इसे संभाल कर रखें।

लोगों की ऐसी बातें सुनकर इसकी अनादिकालीन मिथ्या मान्यता पुष्ट हो जाती है; इसकारण यह गृहीत मिथ्यादृष्टि भी बन जाता है।

सात तत्त्वों को समझने में जिन भूलों की संभावना है; वह एकेन्द्रियादि में कैसे संभव हैं; क्योंकि वे तो सात तत्त्वों के नाम भी नहीं जानते; जान भी नहीं सकते। यह एक ऐसी आशंका है कि जिसका निराकरण महापण्डित

टोडरमलजी जैसे प्रतिभाशाली विद्वान ही कर सकते थे और उन्होंने स्वयं शंका उपस्थित कर इसका सोदाहरण समाधान प्रस्तुत किया।

'ज्ञान का विकास हो जाने के बाद भी इसका उक्त अज्ञान समाप्त क्यों नहीं होता' ह्न इस संदर्भ में भी उन्होंने चिन्तन किया था; जिसे वे इसप्रकार प्रस्तुत करते हैं ह्न

''तथा अपने को और शरीर को निमित्त-नैमित्तिक संबंध बहुत हैं, इसलिए भिन्नता भासित नहीं होती। और जिस विचार द्वारा भिन्नता भासित होती है, वह मिथ्यादर्शन के जोर से हो नहीं सकता; इसलिए पर्याय में ही अहंबुद्धि पायी जाती है।[१]''

हम निरन्तर स्वाध्याय करते हैं, प्रवचन सुनते हैं; हमारे क्षयोपशम ज्ञान में भी यह बात आ जाती है कि आत्मा इन शरीरादि तथा स्त्री-पुत्रादि संयोगों से भिन्न है, इन संयोगी पदार्थों पर इस आत्मा का रंचमात्र भी अधिकार नहीं है, इनमें कुछ भी फेरफार करना संभव नहीं है, इनका उपभोग करना भी संभव नहीं है; क्योंकि इनके और आत्मा के बीच में अत्यन्ताभाव की वज्र की दीवाल है। तत्त्वचर्चा में भी हम ऐसी ही चर्चा करते हैं; प्रवचन के माध्यम से दूसरों को समझाते भी हैं; तथापि प्रवचन या चर्चा के बीच में ही जब कोई हमसे पूछता है कि तुम्हारी ऊँचाई कितनी है, वजन कितना है तो हम तत्काल बोल उठते हैं कि मेरी ऊँचाई ५ फीट ९ इंच है, वजन ७२ किलो है।

उस समय भी हमें यह होश नहीं रहता कि यह ऊँचाई और वजन तो शरीर का है, मेरा नहीं; क्योंकि हमारे अन्तर में अगृहीत मिथ्यात्व के कारण देह में एकत्वबुद्धि अत्यन्त गहराई से समाहित है।

बार-बार टोकने पर हम कदाचित् सावधान भी हो जावें और कहने लगे कि मुझमें वजन कहाँ है ? मैं तो चेतन तत्त्व हूँ, उसमें वजन होता ही नहीं; क्योंकि वजन तो पुद्गलद्रव्य की पर्याय है; फिर भी अन्तर में शरीर

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ-८२

के प्रति एकत्व-ममत्व बना रहता है। यह सब अगृहीत मिथ्यात्व के जोर का परिणाम है। जबतक यह आत्मा अंतर्मुखी पुरुषार्थ द्वारा देह में विद्यमान देह से भिन्न भगवान आत्मा को जान नहीं लेता, पहिचान नहीं लेता, अनुभव नहीं कर लेता, आत्मानुभूति से सम्पन्न नहीं हो जाता; तबतक देहादि में एकत्व-ममत्वरूप अगृहीत मिथ्यात्व विद्यमान रहता ही है।

जिसका जिसमें एकत्व होता है, वह उसके प्रति विशेषरूप से सजग रहता है। इस बात को प्रमाणित करने के लिए एक प्रयोग किया गया। दस लोगों को एक ही मात्रा की नींद की गोली खिलाकर सुला दिया गया।

जब वे गहरी नींद में चले गये तो सभी के कान में रमेशचन्द नाम को एक से मन्द स्वर में सुनाया गया। तब रमेशचन्द नाम का व्यक्ति तो जाग गया, पर शेष सभी सोते रहे। फिर उसी मन्द स्वर में सभी को सुरेशचन्द नाम को सुनाया गया तो सुरेशचन्द तो जाग गया, पर शेष सोते रहे; वह रमेशचन्द भी सोता रहा, जो रमेशचन्द शब्द सुनकर जाग गया था।

ऐसा ही प्रत्येक के साथ किया गया, पर सभी अपना-अपना नाम सुनकर जागे, अन्य किसी का नाम सुनकर कोई नहीं जागा।

इसका अर्थ यह हुआ कि जिसका जिस नाम के साथ एकत्व था, अपनापन था; वह उस नाम के प्रति नींद में भी सतर्क था, सावधान था और जिसके साथ एकत्व नहीं था, उसके प्रति सहज उदासीनता थी। तात्पर्य यह है कि **जिसके साथ हमारा अपनापन होता है, एकत्व होता है, ममत्व होता है; उसके प्रति सावधानी-जागृति सोते-जागते निरन्तर बनी रहती है।**

उसके बाद सभी को उतने ही मंद स्वर में 'आत्मा' शब्द सुनाया गया, पर कोई नहीं जागा। आवाज को थोड़ा तेज किया गया, फिर भी कोई नहीं जागा और अधिक तेज करने पर भी कोई नहीं जागा। इससे सिद्ध हो गया कि दिन-रात आत्मा की चर्चा करनेवाले उन लोगों में से किसी के भी हृदय में आत्मा के प्रति अपनापन नहीं है, एकत्व नहीं है,

ममत्व नहीं है, जागृति नहीं है, सावधानी नहीं है। इससे सहज ही सिद्ध होता है कि वे सभी देहादि में एकत्वबुद्धिवाले अगृहीत मिथ्यादृष्टि जीव हैं; क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीवों को तो आत्मा के प्रति सतत् सावधानी रहती है, जागृति रहती है।

इस अज्ञानी जीव को जैसा एकत्व-ममत्व मनुष्यरूप असमानजातीय द्रव्यपर्याय में है; वैसा ही एकत्व-ममत्व जबतक स्वयं अपने आत्मा में नहीं आता, स्वयं में नहीं आता; तबतक सम्यग्दर्शन की प्राप्ति संभव नहीं है। **आत्मानुभूतिपूर्वक स्वयं में, स्वयं के आत्मा में एकत्व-ममत्व आये और श्रद्धा व ज्ञान में निरन्तर बना रहे, कभी-कभी उपयोग की एकाग्रतारूप ध्यान में भी आये तो समझ लेना कि हम सम्यग्दृष्टि हैं।**

यद्यपि अनुभूति सदा नहीं रहती; तथापि ज्ञानियों के ज्ञान-श्रद्धान में आत्मा सदा बना रहता है।

आत्मा की प्राप्ति का एकमात्र यही उपाय है; सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग की प्राप्ति की भी यही प्रक्रिया है। आत्मा की प्राप्ति और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति एक ही बात है। **जब द्रव्य की ओर से बात करते हो तो आत्मा की प्राप्ति कहते हैं और जब पर्याय की ओर से बात करते हैं तो उसी को सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति कहते हैं।**

यह बात सुनिश्चित ही है कि जबतक सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं होती; तबतक सभी जीव अगृहीत मिथ्यादृष्टि ही हैं और उनके नियम से असमानजातीयद्रव्यपर्यायरूप मनुष्यादि अवस्थाओं में एकत्वबुद्धि, ममत्वबुद्धि, कर्तृत्वबुद्धि, भोक्तृत्वबुद्धि या भ्रमबुद्धि रहती ही है।

इसमें कुदेव, कुशास्त्र और कुगुरु निमित्त भी नहीं होते; क्योंकि किसी भी व्यक्ति ने हमें यह नहीं समझाया कि मैं देह में एकत्व-ममत्व करूँ और न हमने किसी के कहने से देहादि में एकत्व-ममत्व स्थापित किया है।

यदि कोई समझाता भी है तो वह हमारी देह में एकत्वबुद्धिरूप अनादिकालीन मिथ्या मान्यता को मात्र पुष्ट करता है, पैदा नहीं करता।

उसके कहने पर यदि हम अपनी देह में एकत्वबुद्धिरूप पुरानी मान्यता को दृढ़ करते हैं तो फिर अगृहीत मिथ्यादृष्टि के साथ-साथ गृहीत मिथ्यादृष्टि भी हो जाते हैं।

प्रश्न ह्न आप कहते हैं कि अगृहीत मिथ्यात्व में कोई निमित्त नहीं होता; वह तो अपनी उपादानगत योग्यता से स्वयं होता है और अनादिकाल से है। क्या यह ठीक है ? तथा उत्पन्नध्वंसी पर्याय अनादि कैसे हो सकती है?

उत्तर ह्न यह हमने कब कहा कि अगृहीत मिथ्यादर्शन में कोई निमित्त नहीं होता। **हम तो यह कहते हैं कि इसमें कुदेवादि बाह्य निमित्त नहीं होते। अगृहीत मिथ्यात्व में भी मिथ्यात्व कर्म का उदयरूप अंतरंग निमित्त तो है ही।**

इसीप्रकार अगृहीत मिथ्यात्व भी प्रतिसमय नया-नया ही उत्पन्न होता है; पर संतति की अपेक्षा अनादि है और अभव्यों की अपेक्षा अनंतकाल तक रहेगा; क्योंकि जिनवाणी में एक अनादिनित्यपर्यायार्थिकनय भी तो है; जिसकी अपेक्षा पर्याय अनादिनिधन भी होती है।

उक्त सम्पूर्ण चर्चा अगृहीत मिथ्यादृष्टि की, जीव-अजीव तत्त्वों के संबंध में हुई भूलों की हो रही है। यद्यपि जीव और पुद्गल ह्न दोनों द्रव्य अत्यन्त भिन्न हैं; तथापि एकक्षेत्रावगाह संबंध देखकर अगृहीत मिथ्यादृष्टि दोनों को एक ही मान लेता है और उनके मिले हुए रूप में अपना अपनापन और स्वामित्व स्थापित कर लेता है। यही उसकी जीवतत्त्व और अजीवतत्त्व के संबंध में भूल है।

अब आस्रवतत्त्व सबंधी भूल की चर्चा करते हैं। **मोह-राग-द्वेषरूप भाव ही मुख्यरूप से आस्रवभाव हैं। यद्यपि ये आस्रवभाव आत्मा को अनन्त दुःख देनेवाले हैं; तथापि यह उनमें भी शुभ-अशुभ का भेद करके शुभास्रव को सुखदायी मानने लगता है।**

छहढाला में साफ-साफ लिखा है कि ह्न

रागादि प्रगट ये दुःख देन, तिनही को सेवत गिनत चैन।

ये रागादिभावरूप आस्रवभाव दुःख देनेवाले हैं ह्न यद्यपि यह बात अत्यन्त प्रगट है, स्पष्ट है; तथापि यह अगृहीत मिथ्यादृष्टि जीव उन रागादि भावों का सेवन करते हुए आनन्द का अनुभव करता है। आस्रव भावों में इसकी यह सुखबुद्धि अनादि से ही है। इसलिए यह अगृहीत मिथ्यादर्शन है।

आस्रवभाव सबंधी विपरीत मान्यता का स्वरूप स्पष्ट करते हुए पण्डितजी लिखते हैं कि ह्न

''तथा इस जीव को मोह के उदय से मिथ्यात्व-कषायादिकभाव होते हैं, उनको अपना स्वभाव मानता है, कर्मोपाधि से हुए नहीं जानता। दर्शन-ज्ञान उपयोग और ये आस्रवभाव ह्न इनको एक मानता है; क्योंकि इनका आधारभूत तो एक आत्मा है और इनका परिणमन एक ही काल में होता है; इसलिए इसे भिन्नपना भासित नहीं होता और भिन्नपना भासित होने का कारण जो विचार है, सो मिथ्यादर्शन के बल से हो नहीं सकता।

तथा ये मिथ्यात्व-कषायभाव आकुलता सहित हैं; इसलिए वर्तमान दुःखमय हैं और कर्मबंध के कारण हैं; इसलिए आगामी काल में दुःख उत्पन्न करेंगे ह्नह्न ऐसा उन्हें नहीं मानता और भला जान इन भावोंरूप होकर स्वयं प्रवर्तता है।

तथा वह दुःखी तो अपने इन मिथ्यात्व एवं कषायभावों से होता है और वृथा ही औरों को दुःख उत्पन्न करनेवाला मानता है। जैसे ह्न दुखी तो मिथ्याश्रद्धान से होता है, परन्तु अपने श्रद्धान के अनुसार जो पदार्थ न प्रवर्ते, उसे दुःखदायक मानता है।

तथा दुःखी तो क्रोध से होता है, परन्तु जिससे क्रोध किया हो, उसको दुःखदायक मानता है। दुःखी तो लोभ से होता है, परन्तु इष्ट वस्तु की अप्राप्ति को दुःखदायक मानता है ह्न इसीप्रकार अन्यत्र जानना।[१]''

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ-८२

यह अगृहीत मिथ्यादृष्टि जीव आत्मस्वभाव को भूलकर शुभबंध के फल में राग करता है और अशुभबंध के फल में द्वेष करता है। इसप्रकार राग-द्वेष करता हुआ निरन्तर दु:खी रहता है। कर्मफलचेतना अर्थात् कर्मों के उदय को भोगते रहना ही इसकी नियति है।

बंधतत्त्व की भूल के संबंध में पण्डितजी लिखते हैं ह्न

''तथा इन आस्रवभावों से ज्ञानावरणादि कर्मों का बंध होता है। उनका उदय होने पर ज्ञान-दर्शन की हीनता होना, मिथ्यात्व-कषायरूप परिणमन होना, चाहा हुआ न होना, सुख-दु:ख का कारण मिलना, शरीरसंयोग रहना, गति-जाति-शरीरादिक का उत्पन्न होना, नीच-उच्च कुल का पाना होता है। इनके होने में मूलकारण कर्म है, उसे यह पहिचानता नहीं है, क्योंकि वह सूक्ष्म है, इसे दिखायी नहीं देता; तथा वह इसको इन कार्यों का कर्त्ता दिखायी नहीं देता; इसलिए **इनके होने में या तो अपने को कर्त्ता मानता है या किसी और को कर्त्ता मानता है। तथा अपना या अन्य का कर्त्तापना भासित न हो तो मूढ़ होकर भवितव्य को मानता है।**

इसप्रकार बन्धतत्त्व का अयथार्थ ज्ञान होने पर अयथार्थ श्रद्धान होता है।[1]''

संवर और निर्जरासंबंधी भूल को स्पष्ट करते हुए पण्डितजी लिखते हैंह्न

''तथा अनादि से इस जीव को आस्रवभाव ही हुआ है, संवर कभी नहीं हुआ; इसलिए संवर का होना भासित नहीं होता। **संवर होने पर सुख होता है, वह भासित नहीं होता। संवर से आगामी काल में दु:ख नहीं होगा, वह भासित नहीं होता। इसलिए आस्रव का तो संवर करता नहीं है और उन अन्य पदार्थों को दु:खदायक मानता है,** उन्हीं के न होने का उपाय किया करता है; परन्तु वे अपने आधीन नहीं हैं। वृथा ही खेदखिन्न होता है।

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ-८३

तथा बन्ध का एकदेश अभाव होना सो निर्जरा है। जो बन्ध को यथार्थ नहीं पहिचाने उसे निर्जरा का यथार्थ श्रद्धान कैसे हो ?

जिसप्रकार भक्षण किये हुए विष आदिक से दु:ख का होना न जाने तो उसे नष्ट करने के उपाय को कैसे भला जाने ? उसीप्रकार **बन्धनरूप किये कर्मों से दु:ख होना न जाने तो उनकी निर्जरा के उपाय को कैसे भला जाने ?**[1]''

सम्पूर्ण कर्मबंध का और सभी प्रकार के लौकिक सुख-दु:खों का अभाव मोक्ष है। अगृहीत मिथ्यादृष्टि ऐसे मोक्ष को तो पहचानता नहीं है और लौकिक अनुकूलताओं में ही सुख की खोज किया करता है।

मोक्षमार्गप्रकाशक के १९ पृष्ठों के चतुर्थ अधिकार में समागत अगृहीत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र संबंधी सम्पूर्ण विषयवस्तु को पण्डित दौलतरामजी ने छहढाला की दूसरी ढाल में मात्र ८ छन्दों अर्थात् १६ पंक्तियों में समाहित कर लिया है।

थोड़े में बहुत कह देने की शक्ति अर्थात् भाषा की समासशक्ति जैसी दौलतरामजी में है, वैसी अन्यत्र देखना दुर्लभ है। पण्डित दौलतरामजी ने अपनी बात पद्य में रखी; परन्तु पण्डित टोडरमलजी ने इस बात के लिए गद्य को चुना; क्योंकि वे **अपनी बात को तर्क की कसौटी पर कस कर प्रस्तुत करना चाहते थे, आगम प्रमाणों के साथ प्रस्तुत करना चाहते थे, वे अपनी बात को उदाहरणों के माध्यम से स्पष्ट करना चाहते थे; जो गद्य के माध्यम से ही संभव था; क्योंकि पद्य तर्कों, उदाहरणों और आगम के उद्धरणों के भार को बर्दाश्त नहीं कर सकता।**

पद्य में छन्द, अलंकार, अक्षर, मात्रा आदि न जाने कितनी सीमाओं में बंधना पड़ता है; उसमें खुलकर खेलने की आजादी नहीं है। यही कारण है कि पण्डित टोडरमलजी ने गद्य में लिखा।

पण्डित दौलतरामजी की वे पंक्तियाँ इसप्रकार हैं ह्न

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ-८३

ऐसे मिथ्यादृग-ज्ञान-चरण-वश, भ्रमत भरत दु:ख जन्म-मरण।
तातैं इनको तजिये सुजान, सुन, तिन संक्षेप कहूँ बखान।।१।।
जीवादि प्रयोजनभूत तत्त्व, सरधै तिन माहिं विपर्ययत्व।
चेतन को है उपयोग रूप, बिनमूरत चिन्मूरत अनूप।।२।।
पुद्गल-नभ-धर्म-अधर्म-काल, इनतैं न्यारी है जीव चाल।
ताकों न जान विपरीत मान, करि करै देह में निज पिछान।।३।।
मैं सुखी-दु:खी मैं रंक-राव, मेरे धन गृह गोधन प्रभाव।
मेरे सुत तिय मैं सबल दीन, बेरूप सुभग मूरख प्रवीन।।४।।
तन उपजत अपनी उपज जान, तन नशत आपको नाश मान।
रागादि प्रकट ये दु:ख दैन, तिन ही को सेवत गिनत चैन।।५।।
शुभ-अशुभ बंध के फल मँझार, रति-अरति करै निजपद विसार।
आतमहित हेतु विराग ज्ञान, ते लखैं आपको कष्टदान।।६।।
रोकी न चाह निज शक्ति खोय, शिवरूप निराकुलता न जोय।
याही प्रतीतिजुत कछुक ज्ञान, सो दु:खदायक अज्ञान जान।।७।।
इन जुत विषयनि में जो प्रवृत्त, ताको जानों मिथ्याचरित्त।
यों मिथ्यात्वादि निसर्ग जेह, अब जे गृहीत सुनिये सु तेह।।८।।

इस जीव ने प्रथम ढाल में निरूपित संसार में परिभ्रमण करते हुए जन्म-मरण के जो अनन्त दु:ख भोगे हैं, वे मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र के वश होकर ही भोगे हैं। इसलिए इन मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र को अच्छी तरह जानकर छोड़ देना चाहिए। तुम ध्यान से सुनो ! मैं उसका वर्णन संक्षेप में करता हूँ।

अगृहीत मिथ्यादृष्टि जीव जीवादि प्रयोजनभूत तत्त्वों के संबंध में विपरीत श्रद्धान करता है। चेतन जीव का स्वरूप उपयोगरूप है, अमूर्तिक है और यह चैतन्यमूर्ति आत्मा अनुपम पदार्थ है। इस आत्मा का स्वभाव पुद्गल, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाश और काल से भिन्न है।

यह अगृहीत मिथ्यादृष्टि जीव उक्त बात को तो जानता नहीं है और

इसके विपरीत जीव और पुद्गलमयी देह को एक ही मानता हुआ देह से ही अपनी पहिचान करता है, कराता है।

अनुकूल संयोग मिलने पर स्वयं को सुखी मानता है, प्रतिकूल संयोगों के मिलने पर दु:खी मानता है, बाह्य संपत्ति की कमी से अपने को रंक (गरीब) और इसके होने पर स्वयं को रावराजा मानने लगता है। कहता है कि मेरे पास अपार धन है, विशाल घर है, गाय-भैंस आदि हैं और मेरा प्रभाव भी सर्वत्र है, मेरे पुत्र हैं, पत्नी है, मैं बलवान हूँ, सुन्दर हूँ और प्रवीण हूँ तथा कभी कहने लगता है कि मैं बलहीन हूँ, दीन-हीन हूँ, कुरूप हूँ और मूर्ख हूँ।

इस अगृहीत मिथ्यादृष्टि जीव की उक्त मान्यतायें सभी संयोगों पर आधारित हैं।

इसके आगे की बात यह है कि अगृहीत मिथ्यादृष्टि जीव शरीर उत्पन्न होने पर अपनी उत्पत्ति और शरीर के नष्ट होने पर अपना नाश मानता है। तात्पर्य यह है कि पौद्गलिक शरीर और अपने आत्मा को एक माननेवाला यह अगृहीत मिथ्यादृष्टि जीव न तो जीव को सही रूप में जानता है और न अजीव को। इसप्रकार यह इसकी जीव और अजीव तत्त्व संबंधी भूल है।

आत्मा के विकारी भावरूप रागादि भाव हैं, जो प्रगटरूप से दुख देनेवाले हैं; उनका ही सेवन करता है और उनसे स्वयं को सुखी मानता है ह्र यह इस अगृहीत मिथ्यादृष्टि जीव की आस्रव तत्त्व संबंधी भूल है।

अपने सुखस्वरूप रूप को भूलकर शुभबंध के फल से प्रीति करता है और अशुभबंध के फल में अप्रीति करता है। यह इसकी बंधतत्त्व के संबंध में की गई भूल है।

जो ज्ञान-वैराग्य आत्मा का हित करनेवाले हैं; उन्हें स्वयं को कष्ट देनेवाला मानता है। यह इसकी संवर तत्त्व संबंधी भूल है।

स्वयं की शक्ति को भूलकर, खोकर इच्छाओं को न रोकना ही इसकी

निर्जरा तत्त्व के संबंध में की गई भूल है। और अन्त में आकुलता रहित जो कल्याण स्वरूप मुक्ति है, उसे नहीं जानना ही मोक्षतत्त्व संबंधी भूल है।

उक्त भूलों सहित जो भी ज्ञान-श्रद्धान है, वे ही दु:खदायी अगृहीत मिथ्याज्ञान और अगृहीत मिथ्याश्रद्धान है।

इन अगृहीत मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान के साथ होनेवाली पंचेन्द्रिय विषयों में प्रवृत्ति ही अगृहीत मिथ्याचारित्र है।

इसप्रकार यह वर्णन अगृहीत मिथ्यादर्शन, अगृहीत मिथ्याज्ञान और अगृहीत मिथ्याचारित्र का हुआ। अब इसके बाद गृहीत मिथ्यादर्शन, गृहीत मिथ्याज्ञान और गृहीत मिथ्याचारित्र का वर्णन करते हैं।

अनादिकालीन अगृहीत मिथ्यात्व के जोर से शरीर और स्त्री-पुत्रादि संयोगों में एकत्व-ममत्व और रागादि भावों में सुखबुद्धि, उपादेयबुद्धि इतनी गहराई तक समाहित है कि अनेक विपरीत प्रसंगों के उपस्थित होने पर भी नहीं टूटती।

अपने पुत्र के दुर्व्यवहार से नाराज होकर सेठजी ने समाचार-पत्रों में छपवा दिया कि मेरे पुत्र से अब मेरा कोई संबंध नहीं है। उससे जो भी व्यक्ति लेन-देन करेगा, उसकी जिम्मेदारी उसी की है, मेरी नहीं है।

फिर भी वे समय-समय पर इस बात पर दु:ख प्रगट करते रहते हैं। कहते हैं कि मुझे इस बात का बहुत दु:ख है कि मेरी संतान नालायक है।

जब उन्हें यह याद दिलाया जाता है कि आपने तो समाचार-पत्रों में निकाल दिया कि उससे अब आपका कोई संबंध नहीं है; तब वे कहते हैं कि अखबार में निकाल देने से क्या होता है, आखिर है तो वह मेरा बेटा ही। यह एकत्वबुद्धि की पकड़ है, इतनी मजबूत है कि टूटती ही नहीं।

अरे, भाई ! यह पकड़ तो तत्त्वाभ्यास से टूटती है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है। **परपदार्थों और रागादि विकारीभावों में अनादिकालीन एकत्व, ममत्व, कर्तृत्व और भोक्तृत्वबुद्धिरूप अगृहीत मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र ही वास्तविक रोग है, संसार का मूलकारण है।** ●

छठवाँ प्रवचन

पण्डित टोडरमलजी द्वारा लिखित मोक्षमार्गप्रकाशक नामक ग्रन्थराज में प्रतिपादित विषयवस्तु की चर्चा चल रही है। इस ग्रन्थ का आधार कोई एक ग्रन्थ न होकर सम्पूर्ण जैन वाङ्गमय है। यह सम्पूर्ण जैन वाङ्गमय को अपने में समेट लेने का प्रयास था; पर खेद है यह ग्रन्थराज पूर्ण न हो सका।

यदि यह पूर्ण हो गया होता तो यह कहने में कोई संकोच नहीं होता कि सम्पूर्ण जैन वाङ्गमय कहीं एक जगह सरल, सुबोध जनभाषा में देखना हो तो मोक्षमार्गप्रकाशक को देख लीजिये।

अपूर्ण होने पर भी यह अपनी अपूर्वता के लिए प्रसिद्ध है।

इसके चौथे अधिकार में समागत विषयवस्तु की चर्चा चल रही है; जिसमें अभीतक अगृहीत मिथ्यादर्शन का स्वरूप स्पष्ट किया जा चुका है। अब अगृहीत मिथ्याज्ञान और अगृहीत मिथ्याचारित्र की चर्चा करना है।

यद्यपि छहढाला में समागत पंक्तियों में समागत अगृहीत मिथ्याज्ञान और अगृहीत मिथ्याचारित्र की सामान्य बात हुई है; तथापि उसकी जो विशेष चर्चा मोक्षमार्गप्रकाशक में है; उसे अब स्पष्ट करना है।

अगृहीत मिथ्यादर्शन और अगृहीत मिथ्याज्ञान में मात्र श्रद्धान और ज्ञान का ही अन्तर है; क्योंकि देहादि को अपना मानना अगृहीत मिथ्यादर्शन और देहादि को ही अपना जानना अगृहीत मिथ्याज्ञान है। **मुक्तिमार्ग में प्रयोजनभूत जीवादि तत्त्वार्थों का विपरीत श्रद्धान अगृहीत मिथ्यादर्शन है और उन्हीं का विपरीत ज्ञान अगृहीत मिथ्याज्ञान है। इसलिए जो विवेचन अगृहीत मिथ्यादर्शन के बारे में किया गया है; उसको अगृहीत मिथ्याज्ञान पर भी घटित कर लेना चाहिए।**

जिन लोगों को जानने और मानने में अथवा ज्ञान और श्रद्धान में अन्तर दिखाई नहीं देता; उन्हें तो ऐसा प्रश्न उठेगा ही कि इनमें क्या अन्तर है ?

ध्यान रहे यहाँ जीवादि प्रयोजनभूत तत्त्वों के संदर्भ में सम्यक् एवं मिथ्या ज्ञान-श्रद्धान से ही सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि नाम पाता है; अन्य अप्रयोजनभूत लौकिक जानकारी से कोई लेना-देना नहीं है। सम्यग्दृष्टि का सभी ज्ञान सम्यग्ज्ञान है और मिथ्यादृष्टि का सभी ज्ञान मिथ्याज्ञान है; क्योंकि ज्ञान में सम्यक्पना सम्यक्श्रद्धान से आता है।

पुत्रादि या किसी अन्य व्यक्ति के संकट में साथ न देने पर यदि कोई कहता है कि आज मैंने जान लिया है कि कोई किसी का नहीं है।

यद्यपि उसका यह कथन तात्त्विक दृष्टि से सत्य ही है; तथापि वह द्वेष से कह रहा है; अत: वह सम्यग्ज्ञानी नहीं है।

पुत्रादि की जरा-सी अनुकूलता दिख जाने पर उसे यह कहते भी देर नहीं लगेगी कि आखिर समय पर तो अपने लोग ही काम आते हैं। कहा तो यहाँ तक जाता है कि ह्न

'खोटा बेटा, खोटा दाम, समय पड़े पर आवे काम।'

सम्यग्ज्ञानी भी यही कहता है कि कोई किसी का नहीं है, तथापि उसका यह निर्णय तत्त्वज्ञान के आधार पर लिया गया अकाट्य निर्णय है; अत: उसका ज्ञान सम्यग्ज्ञान है।

प्रयोजनभूत तत्त्व जो अपना त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा, उसमें एकत्वबुद्धि पूर्वक यह जानना कि 'यह मैं ही हूँ' इसका नाम सम्यग्ज्ञान है।

अपने आत्मा को छोड़कर अन्य पदार्थों में एकत्व, ममत्व, कर्तृत्व और भोक्तृत्वबुद्धि पूर्वक यह जानना कि 'ये मैं हूँ' या 'ये मेरे हैं' 'मैं इनका कर्त्ता-भोक्ता हूँ' ह्न इसका नाम ही अगृहीत मिथ्याज्ञान है।

ऐसे मिथ्यादर्शन एवं मिथ्याज्ञान सहित जो राग-द्वेषमय प्रवृत्ति पाई जाती है, पंचेन्द्रिय विषयों में प्रवृत्ति पाई जाती है; वह अगृहीत मिथ्याचारित्र है।

सम्यग्दृष्टि धर्मात्माओं में पाई जानेवाली विषयों की प्रवृत्ति मिथ्या-चारित्र नहीं कहलाती; उसे असंयम कहते हैं।

अपने भगवान आत्मा को छोड़कर कोई भी पदार्थ न हमें इष्ट है और न अनिष्ट है, न कोई सुखदायक है और न कोई दु:खदायक है; वे तो मात्र

हमारे ज्ञान के ज्ञेय हैं, मात्र जानने में आते हैं। जो भी परपदार्थ जानने में आते हैं, उनमें से हम कुछ को इष्ट जानकर, इष्ट मानकर, उनसे राग करने लगते हैं और कुछ पदार्थों को अनिष्ट जानकर, अनिष्ट मानकर उनसे द्वेष करने लगते हैं। उन **परपदार्थों को इष्टानिष्ट मानना अगृहीत मिथ्यादर्शन है, इष्टानिष्ट जानना अगृहीत मिथ्याज्ञान है और इष्टानिष्ट जान-मान कर उनसे राग-द्वेष करना, पंचेन्द्रिय विषयों में प्रवृत्ति अगृहीत मिथ्या-चारित्र है।**

जब हम किसी वस्तु को इष्ट मानने लगते हैं या किसी व्यक्ति को मित्र मानने लगते हैं तो उनसे सहज ही राग हो जाता है और जब हम किसी वस्तु को अनिष्ट मानने लगते हैं या किसी व्यक्ति को शत्रु मानने लगते हैं तो उनसे सहज ही द्वेष हो जाता है। **विपरीत मान्यतापूर्वक किये गये ये राग-द्वेष ही अगृहीत मिथ्याचारित्र है।**

मिथ्यात्व के साथ रहनेवाली यह राग-द्वेष की परम्परा असीमित विस्तारवाली है; इसलिए अनन्त है, अनन्तानुबंधी है।

जिन परपदार्थों को हम इष्ट जानते-मानते हैं, उनसे राग करते हैं और उनसे द्वेष करनेवालों से द्वेष करने लगते हैं अथवा उनसे राग करनेवालों से राग करने लगते हैं। इसीप्रकार जिन परपदार्थों को हम अनिष्ट जानते-मानते हैं, उनसे द्वेष करते हैं और उनसे द्वेष करनेवालों से राग करने लगते हैं अथवा उनसे राग करनेवालों से द्वेष करने लगते हैं। इसप्रकार की परम्परा का कोई अन्त नहीं है; अत: यह अनंत है, अनंतानुबंधी है।

यह बात तो लोक में प्रसिद्ध ही है कि 'शत्रु का शत्रु मित्र होता है और मित्र का शत्रु शत्रु होता है। इसीप्रकार मित्र का मित्र मित्र होता है और शत्रु का मित्र शत्रु होता है। इसको नीति या राजनीति माननेवाले लोग अनंतानुबंधी कषायवाले लोग हैं; क्योंकि इस परम्परा को आप चाहे जितना बढ़ा सकते हैं। इसके अनुसार तो न केवल मित्र, वरन् शत्रु भी अनंत हो जाते हैं। जिसके मित्र व शत्रु अनंत हों, उसकी आकुलता भी अनंत ही होगी। ऐसे लोग अनंतदु:खी लोग हैं।

'यह राग-द्वेष की परम्परा अगृहीत मिथ्यादृष्टियों में किसप्रकार प्रवर्तती है' ह्न इसे स्पष्ट करते हुए पण्डितजी लिखते हैं ह्न

''प्रथम तो इस जीव को पर्याय में अहंबुद्धि है सो अपने को और शरीर को एक जानकर प्रवर्तता है। तथा इस शरीर में अपने को सुहाये ऐसी इष्ट अवस्था होती है, उसमें राग करता है; अपने को न सुहाये ऐसी अनिष्ट अवस्था होती है, उसमें द्वेष करता है। तथा शरीर की इष्ट अवस्था के कारणभूत बाह्य पदार्थों में तो राग करता है और उसके घातकों में द्वेष करता है। तथा शरीर की अनिष्ट अवस्था के कारणभूत बाह्य पदार्थों में तो द्वेष करता है और उनके घातकों में राग करता है।

तथा इनमें जिन बाह्य पदार्थों से राग करता है, उनके कारणभूत अन्य पदार्थों में राग करता है और उनके घातकों में द्वेष करता है। तथा जिन बाह्य पदार्थों से द्वेष करता है, उनके कारणभूत अन्य पदार्थों में द्वेष करता है और उनके घातकों में राग करता है। तथा इनमें भी जिनसे राग करता है, उनके कारण व घातक अन्य पदार्थों में राग-द्वेष करता है। तथा जिनसे द्वेष है, उनके कारण व घातक अन्य पदार्थों में द्वेष व राग करता है।

इसीप्रकार राग-द्वेष की परम्परा प्रवर्तती है।

तथा कितने ही बाह्य पदार्थ शरीर की अवस्था के कारण नहीं है, उनमें भी राग-द्वेष करता है। जैसे ह्न गाय आदि को बच्चों से कुछ शरीर का इष्ट नहीं होता, तथापि वहाँ राग करते हैं और कुत्ते आदि को बिल्ली आदि से कुछ शरीर का अनिष्ट नहीं होता, तथापि वहाँ द्वेष करते हैं।

तथा कितने ही वर्ण, गंध, शब्दादिक के अवलोकनादि से शरीर का इष्ट नहीं होता, तथापि उनमें राग करता है। कितने ही वर्णादिक के अवलोकनादिक से शरीर को अनिष्ट नहीं होता, तथापि उनमें द्वेष करता है। ह्न इसप्रकार भिन्न बाह्य पदार्थों में राग-द्वेष होता है।

तथा इनमें भी जिनसे राग करता है, उनके कारण और घातक अन्य पदार्थों में राग व द्वेष करता है। और जिनसे द्वेष करता है, उनके कारण और घातक अन्य पदार्थों में द्वेष व राग करता है।

इसीप्रकार यहाँ भी राग-द्वेष की परम्परा प्रवर्तती है।''

अगृहीत मिथ्यादृष्टियों में पाई जानेवाली यह राग-द्वेष की अनंत परम्परा सैनी पंचेन्द्रिय मनुष्यों पर घटित करके स्पष्ट की है; क्योंकि एकेन्द्रियादि के तो मन के अभाव में उपयोग इतना लम्बाना संभव ही नहीं होता। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वे अगृहीत मिथ्यादृष्टि नहीं हैं। अगृहीत मिथ्यादृष्टियों में तो वे हैं ही, पर उनकी कषायों की अनंतता केवलज्ञानगम्य है।

अन्य पदार्थों में इष्टानिष्ट की कल्पना के संदर्भ में पण्डितजी लिखते हैंह्न

''जो अपने को सुखदायक ह्न उपकारी हो उसे इष्ट कहते हैं; अपने को दु:खदायक ह्न अनुपकारी हो उसे अनिष्ट कहते हैं। लोक में सर्व पदार्थ अपने-अपने स्वभाव के ही कर्त्ता हैं, कोई किसी को सुख-दु:खदायक, उपकारी-अनुपकारी है नहीं। यह जीव ही अपने परिणामों में उन्हें सुखदायक ह्न उपकारी मानकर इष्ट जानता है अथवा दु:खदायक ह्न अनुपकारी जानकर अनिष्ट मानता है; क्योंकि एक ही पदार्थ किसी को इष्ट लगता है, किसी को अनिष्ट लगता है।

जैसे ह्न जिसे वस्त्र न मिलता हो, उसे मोटा वस्त्र इष्ट लगता है और जिसे पतला वस्त्र मिलता है, उसे वह अनिष्ट लगता है। सूकरादि को विष्टा इष्ट लगती है, देवादि को अनिष्ट लगती है। किसी को मेघवर्षा इष्ट लगती है, किसी को अनिष्ट लगती है ह्न इसीप्रकार अन्य जानना।

तथा इसीप्रकार एक जीव को भी एक ही पदार्थ किसी काल में इष्ट लगता है, किसी काल में अनिष्ट लगता है। तथा यह जीव जिसे मुख्यरूप से इष्ट मानता है, वह भी अनिष्ट होता देखा जाता है ह्न इत्यादि जानना।

जैसे ह्न शरीर इष्ट है, परन्तु रोगादि सहित हो, तब अनिष्ट हो जाता है; पुत्रादिक इष्ट हैं, परन्तु कारण मिलने पर अनिष्ट होते देखे जाते हैं ह्न

इत्यादि जानना। तथा यह जीव जिसे मुख्यरूप से अनिष्ट मानता है, वह भी इष्ट होता देखते हैं। जैसे ह्न गाली अनिष्ट लगती है, परन्तु ससुराल में इष्ट लगती है। इत्यादि जानना।

इसप्रकार पदार्थ में इष्ट–अनिष्टपना है नहीं। यदि पदार्थों में इष्ट–अनिष्टपना होता तो जो पदार्थ इष्ट होता, वह सभी को इष्ट ही होता और जो अनिष्ट होता, वह अनिष्ट ही होता; परन्तु ऐसा है नहीं। यह जीव कल्पना द्वारा उन्हें इष्ट–अनिष्ट मानता है, सो यह कल्पना झूठी है।

तथा पदार्थ सुखदायक ह्न उपकारी या दु:खदायक ह्न अनुपकारी होता है सो अपने आप नहीं होता, परन्तु पुण्य–पाप के उदयानुसार होता है। जिसके पुण्य का उदय होता है, उसको पदार्थों का संयोग सुखदायक ह्न उपकारी होता है और जिसके पाप का उदय होता है उसे पदार्थों का संयोग दु:खदायक–अनुपकारी होता है। ह्न ऐसा प्रत्यक्ष देखते हैं।

किसी को स्त्री–पुत्रादिक सुखदायक हैं, किसी को दु:खदायक हैं; किसी को व्यापार करने से लाभ है, किसी को नुकसान है; किसी के शत्रु भी दास हो जाते हैं; किसी के पुत्र भी अहितकारी होता है। इसलिए जाना जाता है कि पदार्थ अपने आप इष्ट–अनिष्ट नहीं होते, परन्तु कर्मोदय के अनुसार प्रवर्तते हैं।

जैसे किसी के नौकर अपने स्वामी के कहे अनुसार किसी पुरुष को इष्ट–अनिष्ट उत्पन्न करें तो वह कुछ नौकरों का कर्तव्य नहीं है, उनके स्वामी का कर्तव्य है। कोई नौकरों को ही इष्ट–अनिष्ट माने तो झूठ है।

उसीप्रकार कर्म के उदय से प्राप्त हुए पदार्थ कर्म के अनुसार जीव को इष्ट–अनिष्ट उत्पन्न करें तो वह कोई पदार्थों का कर्तव्य नहीं है, कर्म का कर्तव्य है। यदि पदार्थों को ही इष्ट–अनिष्ट माने तो झूठ है।

इसलिए यह बात सिद्ध हुई कि पदार्थों को इष्ट–अनिष्ट मानकर उनमें राग–द्वेष करना मिथ्या है।[१]''

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ–८९–९०

इस मिथ्या मान्यता को जड़मूल से उखाड़ फैंकने का एकमात्र उपाय वस्तुस्वरूप को समझकर प्रयोजनभूत तत्त्वों के बारे में सम्यक् निर्णय करना है। इस कार्य के लिए निरन्तर किये जानेवाले तत्त्वाभ्यास की परम आवश्यकता है।

प्रत्येक द्रव्य की सत्ता पूर्णत: स्वतंत्र है। प्रत्येक द्रव्य अपनी परिणति से अभिन्न है, अपनी परिणति का स्वामी है, अपनी परिणति का कर्त्ता–भोक्ता भी वही है; किसी अन्य द्रव्य का उसमें किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं है।

आत्मा भी एक द्रव्य है; अत: वह भी पूर्णत: स्वतंत्र सत्तावाला पदार्थ है। वह भी अपनी पर्याय से अभिन्न, उसका स्वामी और उसका कर्त्ता–भोक्ता भी स्वयं ही है। किसी अन्य पदार्थ का उसके परिणमन में कुछ भी हस्तक्षेप नहीं है।

वस्तुस्वरूप का ऐसा निर्णय ही तत्त्वनिर्णय है, तत्त्वविचार है; जो अगृहीत मिथ्यादर्शनादि से मुक्त होने का एकमात्र उपाय है।

उक्त विचार और तत्त्वनिर्णय के बल से जब यह सुनिश्चित हो जाता है कि कोई परपदार्थ हमारे लिए इष्ट या अनिष्ट है ही नहीं तो फिर राग–द्वेष करने का कोई आधार ही नहीं रहता, कारण ही नहीं रहता; अत: अनन्तानुबंधी राग–द्वेष आत्मानुभूति होते ही तत्काल नष्ट हो जाते हैं; शेष राग–द्वेष भी क्षीण होने लगते हैं।

जब जड़ ही उखड़ गई तो फिर फल–फूल और पत्ते कबतक हरे–भरे रहेंगे; अब तो उन्हें मुरझाना ही है, उनके पास सूखकर गिर जाने के अतिरिक्त कोई चारा ही नहीं रहता है। परन्तु यह सब होता क्यों नहीं ?

इसके उत्तर में पण्डितजी कहते हैं कि मिथ्यात्व के जोर से यह जीव इसतरह के विचार ही नहीं करता और पर में फेरफार करने के विकल्पों में ही उलझा रहता है; उन पर स्वामित्व, एकाधिपत्य जमाने के विचार में ही उलझा रहता है।

यह मिथ्यात्व का जोर भी कोई और नहीं है; अपने आत्मा का भावकलंक ही है। गोम्मटसार जीवकाण्ड में लिखा है ह्न

अत्थि अणंता जीवा, जेहिं ण पत्तो तसाण परिणामो।
भावकलंकसुपउरा, णिगोदवासं ण मुंचंति।।[१]

निगोद में ऐसे अनंत जीव हैं, जिन्होंने अभीतक त्रसपर्याय की प्राप्ति नहीं की है। वे जीव अगृहीत मिथ्यात्वरूप प्रचुर भावकलंक के कारण ही निगोद के आवास को अनंतकाल तक नहीं छोड़ते।

पर के स्वामित्व और उसमें अपनी इच्छानुसार परिणमन करने-कराने के तीव्र परिणाम और उनकी अनुकूलता को भोगने के तीव्रतम परिणाम ही भावकलंक हैं, जिसके कारण यह जीव अनंतकाल तक निगोद में रहा है और अब सैनी पंचेन्द्रिय मनुष्य पर्याय में भी पर के स्वामित्व और कर्तृत्व के अहंकार-ममकार में मरा जा रहा है।

जब भी कोई प्रतिकूल प्रसंग आता है तो हम उसके कारण दूसरों में खोजने लगते हैं। **अनादिकालीन अगृहीत मिथ्यात्व के जोर से हमारा ध्यान इस ओर जाता ही नहीं है कि इसमें कोई हमारी भी गलती हो सकती है।**

जब कोई लड़का किसी लड़की को देखने जाता है तो वह कुछ ही क्षणों में इस निर्णय पर पहुँच जाता है कि मुझे इससे शादी करनी है या नहीं ?

यद्यपि इस निर्णय करने में उसे कुछ भी देर नहीं लगती; तथापि वह अपना निर्णय किसी को बताता नहीं है; गोल-मोल बातें ही करता रहता है और अन्त में कह देता है कि है तो सबकुछ ठीक, पर उत्तर तो मेरे माता-पिता ही देंगे।

आज के लड़के बहुत चतुर हो गये हैं। वे जानते हैं कि यदि मैंने अभी स्पष्ट कह दिया कि मुझे लड़की पसन्द नहीं है तो अभी का चाय-पानी भी संकट में पड़ जायेगा और यह कह दिया है कि मुझे तो लड़की बहुत पसन्द है तो पिताजी को सौदाबाजी करने का अवसर नहीं मिलेगा।

१. गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा-१९७

अत: वह अपने मन की बात मन में ही रखता है और मीठी-मीठी बातें करके ऐसा संकेत देता है कि जैसे उसे लड़की बहुत पसन्द है।

लड़कीवालों के पड़ौस में उस लड़के की जान-पहिचान का एक परिवार रहता था। जब लड़का जाने लगा तो वह उनसे मिलने के लिए उनके घर गया। उनके यहाँ दस-पाँच मिनिट रुक कर अपने घर चला गया।

लड़के के पिता से जब उत्तर मांगा गया तो उत्तर मिला कि अभी लड़के का विचार दो-चार वर्ष शादी करने का ही नहीं है।

अरे, भाई ! अभी शादी करने का विचार ही नहीं था तो फिर वह लड़की देखने आया ही क्यों ? व्यर्थ ही दूसरों को परेशान करने से क्या प्रयोजन है ?

प्रयोजन तो कुछ भी नहीं है; पर लड़केवालों ने नापसंदगी व्यक्त किये बिना, मना करने का एक तरीका निकाल लिया है।

यह उत्तर सुनकर लड़कीवाले सोचने लगे कि लड़के को तो लड़की बहुत पसन्द थी; उसकी बातों से तो यही लगता था कि काम बन ही गया है, पर वह पड़ौसी के यहाँ गया था। लगता है उसने भड़का दिया है, हमारा काम बिगाड़ दिया है। हमने इसका क्या बिगाड़ा है, यह हमारे पीछे क्यों पड़ा है; कुछ समझ में नहीं आता। इसके रहते तो हमारी लड़की की शादी होना संभव ही नहीं है, अब हम करें तो करें क्या ?

यद्यपि लड़केवालों के इन्कार करने में पड़ौसी का रंचमात्र भी योगदान नहीं था; पर लड़कीवालों के दिमाग में तो यही जमा था कि उनके अहित में सदा पड़ौसियों का ही हाथ रहता है।

''हमारी लड़की या हममें भी कोई कमी हो सकती है'' ह्न यह सोचने के लिए तो कोई तैयार ही नहीं है।

इसीप्रकार हम अपने सुख-दु:ख के कारण अपने में खोजने के लिए तैयार ही नहीं हैं, पता चल जाने पर भी मानने के लिए तैयार नहीं हैं; क्योंकि अनादिकालीन अगृहीत मिथ्यात्व के कारण हमारा यह तो पक्का निर्णय है ही कि हमारा बिगाड़-सुधार कोई न कोई परपदार्थ ही

करता है। बस खोजना तो यह है कि वह कौन है ? सो जब कुछ पता नहीं चलता तो हम अपनी कल्पना से किसी न किसी पर के माथे मढ़ देते हैं।

मैं यह गारंटी तो नहीं दे सकता कि पड़ौसी पूरी तरह निर्दोष है, उसने कुछ भी नहीं कहा होगा; क्योंकि भारत में ऐसे पड़ौसियों की कमी नहीं है कि जो अकारण ही दूसरों के काम बिगाड़ने की सोचते रहते हैं; पर यह गारंटी अवश्य देना चाहता हूँ कि उस लड़के के भड़कने में पड़ौसी का कोई योगदान नहीं है; क्योंकि जिस लड़के को जो लड़की पसन्द आ जाती है तो वह किसी के भी भड़काने में नहीं भड़कता, समझाने से नहीं समझता, यहाँ तक माँ-बाप आदि गुरुजनों की भी नहीं सुनता, सम्पूर्ण सम्पत्ति से बेदखल कर देने की धमकी से भी नहीं डरता, माँ की अश्रुधारा से भी नहीं पिघलता। ऐसे अनेक उदाहरण पौराणिक कथानकों में और इतिहास के पन्नों में तो मिल ही जाते हैं; पर आज के भारत में तो गली-गली में मिल जायेंगे।

पड़ौसी ने कुछ नहीं किया है, यदि किया भी हो तो उसके करने से कुछ नहीं हुआ है; असल बात तो यह है कि लड़का ही लड़की पर नहीं रींझ पाया। पर हमारी यह बात कौन मानता है; क्योंकि **सभी लोग अपनी असफलता को किसी दूसरे के नाम पर ही मढ़ना चाहते हैं।**

इसीप्रकार हमारे सुख-दु:ख के कारण हममें ही विद्यमान हैं, कोई किसी को सुखी-दु:खी नहीं करता। न तो हमें किसी से डरने की जरूरत है और न किसी से सुख की भीख मांगनी है; पर अनादिकालीन मिथ्या मान्यता के जोर में कौन सुनता है हमारी बात।

अनादिकालीन मिथ्या मान्यता का जोर ही मिथ्यात्व का जोर है; जिसके कारण हम अपने सुख-दु:ख के कारण दूसरों में ही खोजते हैं और निरन्तर अनंत आकुलता का उपभोग करते रहते हैं।

पण्डित टोडरमलजी कहते हैं कि जबतक तुम इस परम सत्य को नहीं समझोगे कि **कोई किसी के जीवन-मरण और सुख-दु:ख का कर्त्ता-**

भोक्ता नहीं है, कोई किसी का स्वामी नहीं है और कोई किसीरूप कभी होता नहीं है; सभी पदार्थ स्वयंरूप हैं, स्वयं के स्वामी और कर्त्ता-भोक्ता हैं; तबतक सुखी होना संभव नहीं है और यह बात माने बिना राग-द्वेष की परम्परा भी नहीं टूट सकती।

पर में एकत्व, ममत्व, कर्तृत्व और भोक्तृत्वबुद्धि ही अगृहीत मिथ्या-दर्शन है, अगृहीत मिथ्याज्ञान है और इन मिथ्यादर्शन-ज्ञानपूर्वक राग-द्वेष की प्रवृत्ति ही अगृहीत मिथ्याचारित्र है, जो सर्वथा त्याज्य है।

हमारे चित्त में जो बातें बैठ जाती हैं, सो बैठ जाती हैं। हम उसके विरुद्ध सोच भी नहीं सकते, हमारी बुद्धि निरन्तर उसी का अनुसरण करती है।

सामान्य जनों के हृदय में एक बात बैठ गई है या बैठा दी गई है कि दुकानदार बनिये एक नंबर के ठग होते हैं। वे किसी को भी नहीं छोड़ते।

एक दुकानदार से एक किसान ने एक रुपये की सौंफ खरीदी। भाग्य से उस सौंफ में एक रुपया नगद भी आ गया। अब किसान सोचने लगा कि आज तो बनिया ठगा गया; क्योंकि रुपया तो वापिस आ ही गया, सौंफ मुफ्त में आ गई। वह सोच-सोचकर प्रसन्न हो रहा था कि अचानक उसके चित्त में एक प्रश्न खड़ा हुआ कि बनिया तो ठग होता है, वह तो सभी को ठगता है, वह कैसे ठगाया जा सकता है। इसमें भी कोई चाल होगी; पर बहुत सोचने पर वह चाल उसकी समझ में नहीं आई तो गुरुजी के पास पहुँचा।

गुरुजी को सारी बात बताई तो गुरुजी सोच में पड़ गये कि ऐसा कैसे हो सकता है कि बनिया ठगाया जाय ? वह तो ठगनेवाला है। बहुत कुछ सोचने के बाद जब कुछ समझ में नहीं आया तो वे गंभीर हो गये। वैसे तो समझने जैसी भी कोई बात थी नहीं। सौंफ की बोरी में एक रुपये का सिक्का गिर गया होगा। वह सौंफ के साथ तुलकर आ गया था; पर ऐसा मानने पर तो वह अकाट्य सिद्धान्त खण्डित होता था कि बनिया ठग होते हैं। अत: वे भी चिन्तित हो उठे कि कुछ दाल में काला अवश्य है; क्योंकि वे यह तो मान ही नहीं सकते थे कि बनिया भी ठगाया जा सकता है।

मुहल्ले के लोग इकट्ठे हो गये, पर किसी की समझ में कुछ नहीं आ रहा था; सबके चित्त में एक सवाल उठता था कि बनिया कैसे ठगाया जा सकता है? ऐसा आजतक तो कभी हुआ नहीं, अब कैसे हो सकता है?

एक बोला ह्न भाई ! कलयुग है, कुछ भी हो सकता है; पर उसकी बात पर किसी ने ध्यान नहीं दिया। सब मिलकर बड़े गुरुजी के पास पहुँचे और पूरी बात विगतवार सुनाकर हाथ जोड़कर खड़े हो गये।

बड़े गुरुजी भी असमंजस में पड़ गये। कुछ देर तो वे शान्त रहे, फिर एकदम उचक कर बोले ह्न आ गया समझ में, सबकुछ साफ-साफ ही तो है कि ठग बनिये ने एक तोला सौंफ कम तोल दी, ठग लिया न उसने और आप लोग समझ ही नहीं पाये। सब बहुत प्रसन्न हुए; क्योंकि उनकी समझ में सबकुछ आ गया था कि बनिये ने ही किसान को ठगा है।

हमारी भी यही दशा है और हम अगृहीत मिथ्यात्व के जोर में यह सोच भी नहीं पाते कि हमारे अनुकूल-प्रतिकूल जो भी हुआ है, वह सब हमने ही किया है; क्योंकि कोई अन्य व्यक्ति के पुण्य-पाप को हम नहीं भोग सकते और हमारे पुण्य-पाप को अन्य कोई नहीं भोग सकता।

अगृहीत मिथ्यात्व के जोर में हमारी समझ में यह साधारण सी बात भी नहीं आती कि जो करे, सो भरे। हमारी बुद्धि तो निरन्तर दूसरों को उत्तरदायी ठहराने के तर्क खोजती रहती है। यह अगृहीत मिथ्यात्वरूप मोह की महिमा है। इससे अधिक और अब हम क्या कह सकते हैं ?

इसप्रकार अगृहीत मिथ्यादर्शन, अगृहीत मिथ्याज्ञान और अगृहीत मिथ्याचारित्र का स्वरूप स्पष्ट करने के उपरान्त खेद व्यक्त करते हुए पण्डितजी मिथ्यात्वरूप दर्शनमोह की महिमा का बखान करते हुए लिखते हैं ह्न

''ऐसे ये मिथ्यादर्शनादिक भाव जीव के अनादि से पाये जाते हैं, नवीन ग्रहण नहीं किये हैं। देखो इसकी महिमा कि जो पर्याय धारण करता है, वहाँ बिना ही सिखाये मोह के उदय से स्वयमेव ऐसा ही परिणमन होता है। तथा मनुष्यादिक को सत्यविचार होने के कारण मिलने पर भी

सम्यक् परिणमन नहीं होता और श्रीगुरु के उपदेश का निमित्त बने, वे बारम्बार समझायें; परन्तु यह कुछ विचार नहीं करता। तथा स्वयं को भी प्रत्यक्ष भासित हो, वह तो नहीं मानता और अन्यथा ही मानता है।

किसप्रकार ? सो कहते हैं ह्न मरण होने पर शरीर-आत्मा प्रत्यक्ष भिन्न होते हैं। एक शरीर को छोड़कर आत्मा अन्य शरीर धारण करता है; वहाँ व्यन्तरादिक अपने पूर्वभव का संबंध प्रगट करते देखे जाते हैं; परन्तु इसको शरीर से भिन्न-बुद्धि नहीं हो सकती।

स्त्री-पुत्रादिक अपने स्वार्थ के सगे प्रत्यक्ष देखे जाते हैं; उनका प्रयोजन सिद्ध न हो तभी विपरीत होते दिखायी देते हैं; यह उनमें ममत्व करता है और उनके अर्थ नरकादिक में गमन के कारणभूत नानाप्रकार के पाप उत्पन्न करता है।

धनादिक सामग्री किसी की किसी के होती देखी जाती है, यह उन्हें अपनी मानता है। तथा शरीर की अवस्था और बाह्य सामग्री स्वयमेव उत्पन्न होती तथा विनष्ट होती दिखायी देती है, यह वृथा स्वयं कर्त्ता होता है।

वहाँ जो कार्य अपने मनोरथ के अनुसार होता है, उसे तो कहता है ह्न 'मैंने किया' और अन्यथा हो तो कहता है ह्न 'मैं क्या करूँ' 'ऐसा ही होना था अथवा ऐसा क्यों हुआ ?' ह्न ऐसा मानता है। परन्तु या तो सर्व का कर्त्ता ही होना था या अकर्त्ता रहना था, सो विचार नहीं है।

तथा मरण अवश्य होगा ह्न ऐसा जानता है, परन्तु मरण का निश्चय करके कुछ कर्त्तव्य नहीं करता; इस पर्याय संबंधी ही यत्न करता है।

तथा मरण का निश्चय करके कभी तो कहता है कि ह्न मैं मरूँगा और शरीर को जला देंगे। कभी कहता है ह्न मुझे जला देंगे। कभी कहता है ह्न यश रहा तो हम जीवित ही हैं। कभी कहता है ह्न पुत्रादिक रहेंगे तो मैं ही जीऊँगा। ह्न इसप्रकार पागल की भांति बकता है, कुछ सावधानी नहीं है।

तथा अपने को परलोक में जाना है, यह प्रत्यक्ष जानता है; उसके

तो इष्ट-अनिष्ट का यह कुछ भी उपाय नहीं करता और यहाँ पुत्र, पौत्र आदि मेरी सन्तति में बहुत काल तक इष्ट बना रहे, अनिष्ट न हो; ऐसे अनेक उपाय करता है। किसी के परलोक जाने के बाद इस लोक की सामग्री द्वारा उपकार हुआ देखा नहीं है; परन्तु इसको परलोक होने का निश्चय होने पर भी इस लोक की सामग्री का ही पालन रहता है।

तथा विषय-कषायों की परिणति से तथा हिंसादि कार्यों द्वारा स्वयं दु:खी होता है, खेदखिन्न होता है, दूसरों का शत्रु होता है, इस लोक में निंद्य होता है, परलोक में बुरा होता है ह्न ऐसा स्वयं प्रत्यक्ष जानता है; तथापि उन्हीं में प्रवर्तता है।

इत्यादि अनेकप्रकार से प्रत्यक्ष भासित हो, उसका भी अन्यथा श्रद्धान करता है, जानता है, आचरण करता है; सो यह मोह का माहात्म्य है।

इसप्रकार यह जीव अनादि से मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणमित हो रहा है। इसी परिणमन से संसार में अनेक प्रकार का दु:ख उत्पन्न करनेवाले कर्मों का संबंध पाया जाता है। यही भाव दु:खों के बीज हैं, अन्य कोई नहीं।

इसलिए हे भव्य ! यदि दु:खों से मुक्त होना चाहता है तो इन मिथ्यादर्शनादिक विभावभावों का अभाव करना ही कार्य है; इस कार्य के करने से तेरा परम कल्याण होगा।[१]''

उक्त कथन में पण्डित टोडरमलजी ने अगृहीत मिथ्यादृष्टि जीवों की परिणति का जो चित्र प्रस्तुत किया है; वह न केवल पण्डितजी के समय की स्थिति का चित्र है, अपितु आज भी सर्वत्र वही दृष्टिगोचर होता है। इससे स्पष्ट होता है कि यह स्थिति किसी स्थान विशेष की नहीं, अपितु सम्पूर्ण विश्व की है। इसीप्रकार मात्र वर्तमानकाल की नहीं, सदा की है। तात्पर्य यह है कि अगृहीत मिथ्यादृष्टि जीव जहाँ भी होंगे और जब भी होंगे, वहाँ और तब उनकी यही स्थिति रहनेवाली है।

पण्डितजी कहते हैं कि अपने क्षयोपशमज्ञान में यह स्पष्ट हो जाने पर

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ-९३-९४

भी कि मेरा आवास इस देह में अवश्य है, पर मैं देह नहीं हूँ। मैं तो देह से भिन्न ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा हूँ। इस देह का संयोग तो अत्यल्प काल का है; अन्तत: तो मुझे इसे छोड़कर ही जाना है; फिर भी सम्पूर्ण जीवन इस शरीर की सेवा में लगा देता है, आत्मा की तो सुध ही नहीं लेता।

इसीप्रकार स्त्री-पुत्रादि और धनादि का संयोग भी अत्यल्प काल का है। यह अगृहीत मिथ्यादृष्टि जीव अपना सम्पूर्ण जीवन देह, स्त्री-पुत्रादि और धनादि की सम्हाल में लगा देता है। अपने आत्मा के संदर्भ में कोई विचार ही नहीं करता।

भक्ष्य-अभक्ष्य से शरीर का पोषण और न्याय-अन्याय से धन का उपार्जन करके अपार पाप का संग्रह करता है। पाप को तो साथ ले जाना पड़ता है और धन यहीं छूट जाता है। देह की आगामी पीढ़ी की चिन्ता मरते दम तक करता है, पर अगले भव में आत्मा का क्या होगा ह्न इसके संबंध में क्षणभर भी नहीं सोचता।

यह तो हम सभी जानते हैं कि मरना तो है ही। किसी को दो-चार वर्ष बाद तो, किसी को दस-बीस वर्ष बाद। यदि किसी की उम्र कम है तो वह अधिक से पचास-साठ वर्ष और जियेगा। सौ वर्ष के भीतर तो सभी को जाना है। हजार-दो हजार वर्ष तक कोई रहनेवाला नहीं है। ऐसा जानकर भी मृत्यु के अन्तिम क्षण तक इस भव की ही चिन्ता करता है, अगले भव के बारे में कोई विचार नहीं करता।

पण्डितजी तो यहाँ तक लिखते हैं कि यह मोह की मदिरा पीकर पागल जैसा हो गया है। कभी दार्शनिक मुद्रा बनाकर कहता है ह्न

हंसा उड़ जायेगा, पंछी उड़ जायेगा; अर तू यही पड़ा रह जायेगा।
औरत देहरी तक साथ देगी, बेटा मसान तक ले जायेगा।
सब मिलकर तुझे जला देंगे, तू धू-धूकर जल जायेगा।
हंसा उड़ जायेगा, पंछी उड़ जायेगा।

कुछ लोग कहते हैं कि यह वैराग्य का गीत है, कुछ कहते हैं कि इसमें

अध्यात्म भरा है; पर मैं कहता हूँ कि यदि यह वैराग्य है, अध्यात्म है तो फिर अज्ञान क्या है, मिथ्यात्व क्या है ?

मैं जानना चाहता हूँ कि मरने पर जो यहाँ पड़ा रह जायेगा, वह तू है या जो उड़ जायेगा, वह तू है। जिसके साथ औरत देहरी तक जावेगी, जिसे बेटा मसान तक ले जायेगा और जिसे सब लोग मिलकर जला देंगे; तू वह है या जो उड़ जावेगा, वह तू है ?

अरे, भाई ! तू तो वह भगवान आत्मा है, जो मृत्यु होने पर अगले भव में चला जाता है; जो यहाँ पड़ी रहेगी, जिसे मसान ले जाया जायेगा और अन्त में जला दिया जायेगा, वह तो देह है।

जिस भजन में तुझे शरीर बताया जा रहा हो, वह तो अगृहीत मिथ्यादर्शन का पोषक है; वह अच्छा कैसे हो सकता है ?

शरीर, स्त्री-पुत्रादि और धनादि का संयोग पुण्य-पाप के उदयानुसार प्राप्त होते हैं; पर यह समझता है कि धनादि को मैंने कमाया है, शरीर को संभाल कर मैंने रखा है, स्त्री-पुत्रादि की रक्षा मैं करता हूँ। अरे, भाई ! स्त्री-पुत्रादि का पुण्य-पाप उसके साथ होता है, उन्हें जो भी अनुकूलता-प्रतिकूलता प्राप्त होती है; वह सब तो उनके पुण्य-पाप का फल है। उसमें तेरा क्या है ? भले ही यह कहता है कि यह सब मैंने किया है, किन्तु जब इसकी इच्छानुसार कार्य नहीं होता है तो कहने लगता है कि मैं क्या करूँ ?

इसकी यह शक्ति और प्रवृत्ति अगृहीत मिथ्यादर्शन, अगृहीत मिथ्याज्ञान और अगृहीत मिथ्याचारित्ररूप मोह का परिणाम है।

अधिकार के अन्त में पण्डितजी कहते हैं कि यदि तुम इन सांसारिक दुःखों से मुक्त होना चाहते हो तो इन अगृहीत मिथ्यादर्शनादि विभावभावों का अभाव करने का पुरुषार्थ करो। करने योग्य कार्य तो एकमात्र यही है। इसके करने से तेरा कल्याण अवश्य होगा। ●

सातवाँ प्रवचन

आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी कृत मोक्षमार्गप्रकाशक शास्त्र की विषयवस्तु के संबंध में चर्चा चल रही है। **चौथे अधिकार** में अगृहीत मिथ्यादर्शन, अगृहीत मिथ्याज्ञान और अगृहीत मिथ्याचारित्र का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। अब इस **पाँचवें अधिकार** से गृहीत मिथ्यादर्शन, गृहीत मिथ्याज्ञान और गृहीत मिथ्याचारित्र का निरूपण आरंभ करते हैं।

इस बात का उल्लेख इसी अधिकार के आरंभ में पण्डितजी इसप्रकार करते हैं ह्र

‘‘यहाँ अनादि से जो मिथ्यात्वादि भाव पाये जाते हैं, उन्हें तो अगृहीत मिथ्यात्वादि जानना; क्योंकि वे नवीन ग्रहण नहीं किये हैं। तथा उनके पुष्ट करने के कारणों से विशेष मिथ्यात्वादिभाव होते हैं, उन्हें गृहीत मिथ्यात्वादि जानना। वहाँ अगृहीत मिथ्यात्वादि का वर्णन तो पहले किया है, वह जानना और अब अगृहीत मिथ्यात्वादि का निरूपण करते हैं सो जानना।[१]’’

जिसप्रकार कोई जन्मजात रोगी सचेत होकर भी कुपथ्य का सेवन करे तो उस रोगी का ठीक होना और अधिक कठिन हो जाता है; उसीप्रकार अनादि से अगृहीत मिथ्यादृष्टि जीव सैनी पंचेन्द्रिय दशा में विशेष ज्ञानशक्ति पाकर विपरीत मान्यता का पोषण करे तो उसका सुलझना और अधिक कठिन हो जाता है।

इसलिए जिसप्रकार वैद्य कुपथ्यों को विस्तार से बताकर उनके सेवन करने का निषेध करता है; उसीप्रकार यहाँ सद्गुरु अनादिकालीन मिथ्या श्रद्धानादि के पोषक बाह्य कारणों को विस्तार से बताकर उनका निषेध करते हैं।

गृहीत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र का स्वरूप पण्डितजी अति संक्षेप में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ह्र

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ-९५

''कुदेव-कुगुरु-कुधर्म और कल्पित तत्त्वों का श्रद्धान तो मिथ्यादर्शन है। तथा जिनमें विपरीत निरूपण द्वारा रागादि का पोषण किया गया हो ह्न ऐसे कुशास्त्रों का श्रद्धानपूर्वक अभ्यास सो मिथ्याज्ञान है। तथा जिस आचरण में कषायों का सेवन हो और उसे धर्मरूप अंगीकार करे सो मिथ्याचारित्र है।[१]''

मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र की परिभाषा में कुदेव, कुगुरु और कुधर्म तथा कल्पित तत्त्वों के श्रद्धान को मिथ्यादर्शन; रागादि पोषक शास्त्रों के श्रद्धापूर्वक अभ्यास को मिथ्याज्ञान और धर्म मानकर कषायों के सेवनरूप आचरण को मिथ्याचारित्र कहा है; क्योंकि यह प्रकरण गृहीत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र का है।

यह तो आपको ध्यान में है ही कि अगृहीत मिथ्यादर्शन, अगृहीत मिथ्याज्ञान और अगृहीत मिथ्याचारित्र के निरूपण के समय देहादि संयोगों में एकत्व, ममत्व, कर्तृत्व और भोक्तृत्वबुद्धि को मिथ्यादर्शन, देहादि संयोगों को निजरूप जानने, उनका स्वामी और कर्त्ता-भोक्ता जानने का नाम मिथ्याज्ञान और इन मिथ्यादर्शन व मिथ्याज्ञानपूर्वक विषय-कषाय में प्रवृत्ति को मिथ्याचारित्र कहा था।

मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र की उक्त परिभाषाओं में जो अन्तर दिखाई देता है, वह अगृहीत और गृहीत के भेद के कारण है। **अगृहीत में अंतरंग की मुख्यता है और गृहीत में बाह्य की।**

आचार्य उमास्वामी तत्त्वार्थसूत्र में तत्त्वार्थश्रद्धान को और आचार्य समन्तभद्र रत्नकरण्ड श्रावकाचार में सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा को सम्यग्दर्शन और इन्हीं के सम्यक् परिज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहते हैं तथा सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञानसहित पाँच पापों के एकदेश त्याग को देशसंयम और सम्पूर्णत: त्याग को सकल संयम अर्थात् चारित्र कहते हैं।

उन्हीं सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के विरुद्ध यहाँ गृहीत मिथ्यादर्शन के

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ-९६

प्रकरण में कुदेव, कुगुरु और कुधर्म तथा कल्पित तत्त्वार्थों के श्रद्धान को मिथ्यादर्शन, धर्म के नाम पर श्रद्धापूर्वक रागादि पोषक शास्त्रों के अभ्यास को मिथ्याज्ञान और विषय-कषायों के सेवन सहित आचरण को धर्मरूप से अंगीकार करने को मिथ्याचारित्र कहा है।

अगृहीत मिथ्यादर्शन-मिथ्याज्ञान-मिथ्याचारित्र को अंतरंग वृत्ति और प्रवृत्तिरूप से प्रस्तुत किया है और गृहीत मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र को निमित्तादि की अपेक्षा बाह्य व्यवहाररूप में समझाया जा रहा है।

जरा विचार तो करो, अनादिकाल से निगोद में तो यह जीव देहादि में एकत्व, ममत्व, कर्तृत्व और भोक्तृत्वबुद्धिरूप मिथ्यात्व से ग्रसित रहा; भाग्य से वहाँ से निकला और द्वीन्द्रियादि अवस्थाओं को पार करता हुआ महाभाग्य से इस सैनी पंचेन्द्रिय मनुष्य पर्याय में आया तो यहाँ कुगुरु, कुदेव और कुशास्त्रों के चक्कर में पड़ गया।

अन्तर में तो परपदार्थों को अपना मानने, उनका स्वामी और कर्त्ता-भोक्ता बनने का संस्कार था ही; ऊपर से कुदेव और कुगुरुओं से भी यही सुनने को मिला, कुशास्त्रों में भी यही पढ़ने को मिला कि देहादि संयोगों को संभालो। इसप्रकार अनादिकालीन मिथ्या मान्यता और अधिक पुष्ट हो गई तथा सन्मार्ग मिलना और अधिक दुर्लभ हो गया।

इस लोक में अनादिकालीन अगृहीत मिथ्यात्व की सुरक्षा और पोषण की कितनी बड़ी व्यवस्था है; उसका विवेचन पण्डितजी पाँचवें, छठवें और सातवें अधिकार में विस्तार से कर रहे हैं। उसकी सुरक्षा के लिए पर कर्तृत्व के पोषक लोग प्रत्येक नगर की गली-गली में बैठे हैं, घर-घर में जम रहे हैं और निरन्तर परकर्तृत्व की मान्यता को पुष्ट कर रहे हैं।

यह हमारा महाभाग्य है कि कहीं-कहीं इक्के-दुक्के महापण्डित टोडरमलजी जैसे ज्ञानी धर्मात्मा इसके विरुद्ध आवाज लगाते रहे हैं, डंका बजा-बजा कर जगाते रहे हैं; कहते रहे हैं कि हे भव्यजीवो ! इस अनादि-कालीन महा मिथ्यात्व को अब तो छोड़ो।

इस पर कुछ लोग कहते हैं कि क्यों गला खराब कर रहे हो; इस नक्कारखाने में कौन सुनता है तुम्हारी इस तूती की आवाज को।

उनसे हमारा कहना यह है कि जिनकी भली होनहार होगी, जिनकी काललब्धि आ गई होगी, जिनका संसार सागर का किनारा निकट आ गया होगा; वे निकटभव्यजीव सुनेंगे हमारी बात।

यह तो आप जानते ही हैं कि सागर के भीतर अन्तर गहराई में वडवाग्नि जलती है। जिसप्रकार पेट में लगी आग को जठराग्नि कहते हैं, जंगल में लगी आग को दावाग्नि कहते हैं; उसीप्रकार सागर के तल में जलनेवाली आग को वडवाग्नि कहते हैं।

एकबार सागर ने वडवाग्नि से कहा कि तू हमारे पेट में लाखों वर्ष से जल रही है; फिर भी हमारा तो कुछ नहीं बिगड़ा। जरा-सी गर्मी पड़ती है तो नदियाँ सूख जाती हैं, तालाब सूख जाते हैं; पर बाहर से सूरज तप रहा है, अन्दर तू जल रही है; पर क्या हुआ हमारा ? व्यर्थ ही क्यों जल रही है।

वडवाग्नि ने बड़ी ही विनम्रता से कहा कि पेट की अग्नि में दस तोला घी पड़ जावे तो बुझ जाती, चूले की आग एक लोटा पानी पड़ने से बुझ जाती है, जंगल की आग भी मेघ वर्षा होने से बुझ जाती है; पर मेरे ऊपर लाखों वर्षों से समुद्रों पानी पड़ा है, फिर भी मैं जिन्दा हूँ ह्न मेरी सत्ता के लिए क्या इतना ही पर्याप्त नहीं है ?

यह तो आपने सुना ही होगा कि जब नदियों में बाढ़ आती है तो उनके तट पर बसे ग्राम, नगर बह जाते हैं, उजड़ जाते हैं; संकट में पड़ जाते हैं। यदि सागर में बाढ़ आ जाय तो क्या होगा ? इसकी कल्पना की है कभी आपने ? अरे, भाई ! सागर में कभी बाढ़ नहीं आती; क्योंकि उसके पेट में वडवाग्नि जल रही है। उसने सागर पर अंकुश लगा रखा है।

सूरज का ताप उसके पानी को निरन्तर बादलों के रूप में उड़ा कर ले जा रहा है। उक्त अग्नि ने और सूरज की गर्मी ने भले ही सागर को पूरी

तरह सुखा नहीं पाया; पर बेकाबू भी नहीं होने दिया, मर्यादा में रखा। क्या यह वडवाग्नि की कम उपयोगिता है ?

जिसप्रकार अत्यन्त शक्तिशाली हाथी को छोटा-सा अंकुश काबू में रखता है, उसे उश्रृंखल नहीं होने देता; उसीप्रकार इतने बड़े सागर को वडवाग्नि का अंकुश काबू रखता है, उश्रृंखल नहीं होने देता।

आज के इस मनुष्य लोक में गाँव-गाँव में, गली-गली में परकर्तृत्व के प्रतिपादन का बोल-बाला है। जहाँ देखो, वहाँ सर्वत्र उसकी ही चर्चा है। अकर्त्तावादी जैनदर्शन को माननेवाले भी कर्तृत्व के अहंकार में डूबे जा रहे हैं; सारी दुनिया को देह की सेवा में लगा रहे हैं, घर-परिवार से राग करने की प्रेरणा दे रहे हैं, देश और धर्म की रक्षा के नाम पर मरने-मारने को उकसा रहे हैं; ऐसे तूफानों से आन्दोलित मनुष्यलोक में यदि हम, पर में एकत्व-ममत्व का निषेध कर रहे हैं, पर के कर्तृत्व-भोक्तृत्व के विरोध की आवाज उठा रहे हैं तो क्या हमारे अस्तित्व के लिए इतना पर्याप्त नहीं है ?

भोगों के इस सागर में जो थोड़ी-बहुत मर्यादा दिखाई देती है; वह हमारे प्रयासों का ही प्रभाव है, हमारे प्रतिपादन के अंकुश का ही परिणाम है।

आपका यह कहना भी सही नहीं है कि इस नक्कारखाने में कौन सुनता हमारी इस तूती की आवाज को। अरे, भाई ! हमारी आवाज को सुननेवाले, हमारे लेखन को पढ़नेवाले, हमारी प्रेरणा से सन्मार्ग में लगनेवाले भी लाखों लोग हैं। न हमें श्रोताओं की कमी है, न पाठकों की और सन्मार्ग में लगनेवालों की भी कमी नहीं है।

इस पर वे कहते हैं कि यदि ऐसा है तो फिर आप ऐसा क्यों कहते हैं कि कौन सुनता है हमारी बात।

अरे, भाई ! अरबों में, लाखों ने सुन लिया, लाखों ने पढ़ लिया; तो भी तो ऊँट के मुँह में जीरा ही है ? इसलिए कभी-कभी हम कहते हैं कि कौन सुनता है हमारी आवाज ? पर आपने जो यह कहा कि इस

नक्कारखाने में कौन सुनता है तुम्हारी इस तूती की आवाज को; इस पर हम कहना चाहते हैं कि **हमारी तो तूती बोल ही रही है और बोलती भी रहेगी, जिनका भाग्य होगा, वे सुनेंगे और जिनके भाग्य में नहीं होगा, वे नहीं सुनेंगे।** उनके लिए तो पण्डित टोडरमलजी लिखते हैं ह्र

''जिसप्रकार बड़े दरिद्री को अवलोकनमात्र चिन्तामणि की प्राप्ति हो और वह अवलोकन न करे, तथा जैसे कोढ़ी को अमृत-पान कराये और वह न करे; उसीप्रकार **संसार पीड़ित जीव को सुगम मोक्षमार्ग के उपदेश का निमित्त बने और वह अभ्यास न करे तो उसके अभाग्य की महिमा हमसे तो नहीं हो सकती। उसकी होनहार ही का विचार करने पर अपने को समता आती है।** कहा है कि ह्र

साहीणे गुरुजोगे जे ण सुणंतीह धम्मवयणाइ।
ते धिट्ठदुट्ठचित्ता अह सुहडा भवभयविहुणा।।

स्वाधीन उपदेशदाता गुरु का योग मिलने पर भी जो जीव धर्मवचनों को नहीं सुनते, वे धीठ हैं और उनका चित्त दुष्ट है। अथवा जिस संसारभय से तीर्थंकरादि डरे, उस संसारभय से रहित हैं, वे बड़े सुभट हैं।''

एक मदारी था, जो गाँव-गाँव में, चौराहे-चौराहे पर बंदर को नचा-नचाकर लोगों का मनोरंजन किया करता था। एक दिन एक गाँव के बाजार में एक दुकान के सामने उसने अपनी डुग-डुगी बजाना शुरू की तो बन्दर का खेल देखने के लिए बच्चों की भीड़ इकट्ठी होने लगी।

दुकानदार सेठ ने आकर कहा ह्र ''चलो, हटो यहाँ से; हमारी दुकान के सामने तुम यह मजमा नहीं लगा सकते।''

मदारी ने हाथ जोड़कर कहा ह्र ''बस, आधा घंटे का काम है, दिखा लेने दो बंदर का खेल। किराये के रूप में तुम्हारे बच्चे और तुम खेल को मुफ्त में देख लेना।''

पर सेठ नहीं माना और बार-बार कहने लगा ह्र ''हटो यहाँ से, वरना.......''

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ-२०

उसका यह रुख देखकर मदारी बोला ह्र ''सुनो सेठजी, हमने तो यह काम चुना है सो अब हमें तो जिन्दगी भर डुग-डुगी ही बजाना है, बन्दर का खेल ही दिखाना है; यहाँ न सही, तो दूसरी जगह, इस गाँव में नहीं तो दूसरे गाँव में। भारत में सात लाख गाँव हैं। इसलिए हमारी यह डुग-डुगी तो बजेगी ही, बंद होनेवाली नहीं है। सोच लो सेठजी, तुम और तुम्हारे बच्चे खेल देखे बिना ही रह जायेंगे।''

इसीप्रकार हमारा भी यही कहना है कि हमने तो वीतरागी तत्त्वज्ञान का डंका बजाने का कार्य अपनाया है, सो अब तो यह डंका जिन्दगी भर बजाना ही है; इस गाँव में न सही तो दूसरे गाँव में, उसमें भी नहीं तो तीसरे गाँव में। भारत में सात लाख गाँव हैं और भी सारी दुनिया पड़ी है। अत: हमारा काम तो रुकनेवाला नहीं है। हमारी डुग-डुगी तो बजनेवाली ही है, हमारी तूती तो बोलनेवाली ही है। अब आप अपनी सोचिये।

यदि आपने विरोधभाव रखा, विरोध किया तो आप ही इस वीतरागी तत्त्वज्ञान से वंचित रह जायेंगे, आपका मनुष्य भव व्यर्थ के कामों में और अनर्गल भोगों में चला जायेगा। उसके बाद न जाने चार गति और चौरासी लाख योनियों में कहाँ-कहाँ घूमना होगा ? इसलिए हमारा कहना तो यही है कि आप भी हमारी बात पर ध्यान दें, व्यर्थ के विवाद से कोई लाभ नहीं है। इसके बारे में सोचा है कभी आपने ? यदि नहीं तो जरा सोचिये, गंभीरता से विचार कीजिये, अन्यथा यह भव यों ही चला जावेगा।

अरे, भाई ! गृहीत मिथ्यात्व का यह निरूपण पण्डित टोडरमलजी ने जान की बाजी लगाकर किया है। उन्होंने किसी के विरुद्ध कुछ नहीं किया, कुछ नहीं कहा, कुछ नहीं लिखा; उन्होंने तो यह महान कार्य भूले-भटके लोगों को सन्मार्ग पर लाने के लिए किया था, मिथ्यात्व के महापाप से बचाने के लिए किया था। और उनका यह प्रयास अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ है, क्योंकि उनके मोक्षमार्गप्रकाशक ने विगत २५०

वर्षों से अभीतक लाखों लोगों को सन्मार्ग पर लगाया है, लाखों लोगों को गृहीत मिथ्यात्व से छुड़ाया है।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी का जीवन भी समयसार और मोक्षमार्गप्रकाशक पढ़कर ही बदला था। हम भी उन लोगों में से हैं, जिन्होंने मोक्षमार्गप्रकाशक से बहुत कुछ सीखा है।

उनके इस उपकार को, उनके बलिदान को भुलाया नहीं जा सकता। हमें भी आज यही काम करना है और उसी हिम्मत के साथ करना है, सावधानी से करना है, विनम्रता के साथ करना है, आलोचना-प्रत्यालोचना से दूर रहकर करना है। जो निधि हमें व आपको प्राप्त हुई है; उसका भरपूर लाभ लेना है और उसे जन-जन तक पहुँचाना है।

गृहीत मिथ्यात्व का निरूपण करते हुए सबसे पहले इस पाँचवें अधिकार में जैनेतर मतों की समीक्षा प्रस्तुत की गई है; जिसमें उन्होंने उन सभी मतों की समीक्षा की है; जो तत्कालीन समाज में प्रचलित थे।

जैनदर्शन के न्याय ग्रंथों में जो कुछ उपलब्ध होता है, यदि उसे सरल-सुबोध भाषा में एक साथ एक स्थान पर देखना हो तो मोक्षमार्गप्रकाशक का पाँचवाँ अधिकार पढ़ लीजिए।

जो कुछ जैन न्याय ग्रंथों में उपलब्ध होता है, वह सबकुछ तो इसमें है ही; उसके अतिरिक्त **उस समय प्रचलित मुस्लिम मत आदि की समीक्षा भी की गई है।**

एक जमाना यह था कि जब भारतीय दर्शनों में परस्पर वाद-विवाद हुआ करते थे। उस समय का समाज सहिष्णु समाज था और वह उसमें बढ़-चढ़ कर भाग लेता था। दोनों पक्षों की बात गंभीरता से सुनी जाती थी और गुण-दोषों के आधार पर निर्णय होते थे।

ये वाद-विवाद राज-दरबार में हुआ करते थे और न्यायप्रिय राजागण स्वयं उक्त सभा के अध्यक्ष रहा करते थे। आज से लगभग उन्नीस सौ वर्ष पहले इसप्रकार के वाद-विवादों के माध्यम से जैन न्याय के प्रतिष्ठापक

आचार्य समन्तभद्र ने सारे देश में घूम-घूम कर जैनदर्शन की बहुत प्रभावना की थी।

करहाटक नगर के राजा ने जब उनसे उनका परिचय पूछा तो उन्होंने अपना परिचय देते हुए कहा था कि ह्न

(शार्दूलविक्रीडित)

पूर्वं पाटलिपुत्र – मध्यनगरे भेरी मया ताडिता
पश्चान्मालवसिन्धु टुक्क विषये काञ्चीपुरे वैदिशे।
प्राप्तोऽहं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं संकटं
वादार्थी विचराम्यहं नरपते शार्दूलविक्रीडितम्॥

हे राजन् ! सबसे पहले मैंने पाटलिपुत्र (पटना) नगर में शास्त्रार्थ (वाद-विवाद) के लिए भेरी बजाई; उसके बाद मालव, सिन्धु, ढक्क, कांची, विदिशा आदि स्थानों पर जाकर भेरी बजाई और अब बड़े-बड़े दिग्गज विद्वानों से परिपूर्ण इस करहाटक नगर में आया हूँ। मैं वादार्थी हूँ और सिंह के समान सर्वत्र ही निर्भय होकर विचरण करता हूँ।

आचार्य समन्तभद्र के उक्त कथन से न केवल उनकी विद्वता की महिमा हमारे ध्यान में आती है; अपितु उस समय के सहिष्णु समाज का स्वरूप भी हमारे ध्यान में आता है।

उस काल में सभी दर्शनों में स्वमत मंडन और परमत खंडन संबंधी विपुल साहित्य की रचना हुई है। जैनदर्शन भी उससे अछूता नहीं रहा। जैनदर्शन में 'न्यायशास्त्र' नाम से प्रसिद्ध जितना भी साहित्य है; लगभग वह सभी इसीप्रकार का है।

पण्डित टोडरमलजी ने न केवल उक्त साहित्य का गहराई से अध्ययन किया था, अपितु जैनेतर साहित्य का भी भरपूर आलोढ़न किया था।

तत्कालीन विसंगतियों से भी वे भलीभाँति परिचित थे। इस बात के प्रमाण उनके इस मोक्षमार्गप्रकाशक के पाँचवें अधिकार में यत्र-तत्र देखे जा सकते हैं।

जिस समय मोक्षमार्गप्रकाशक लिखा जा रहा था, उस समय

परिस्थितियाँ पूरी तरह बदल गई थीं। समाज में पहले जैसी सहिष्णुता नहीं रही थी और सात्विक वाद-विवाद, वितंडावाद का रूप ले चुके थे। साहित्य के क्षेत्र में भी इसका असर देखा जा सकता था। इसकारण उस समय इसप्रकार का समीक्षात्मक साहित्य लिखना खतरे से खाली नहीं रह गया था।

उक्त परिस्थितियों से पण्डित टोडरमलजी भलीभाँति परिचित थे। फिर भी उन्होंने हम-तुम जैसे लोगों के उपकार के लिये जान की बाजी लगाकर यह काम किया।

यह लिखते समय उनके चित्त में अनेक विकल्प खड़े हुए थे, जिनकी झलक उनके निम्नांकित कथनों में देखी जा सकती है ह्न

''तथा वह कहता है कि ह्न यह तो सच है; परन्तु अन्यमत की निन्दा करने से अन्यमती दु:खी होंगे, विरोध उत्पन्न होगा; इसलिए निन्दा किसलिए करें ?

वहाँ कहते हैं कि ह्न हम कषाय से निन्दा करें व औरों को दु:ख उपजायें तो हम पापी ही हैं; परन्तु अन्यमत के श्रद्धानादि से जीवों के अतत्त्वश्रद्धान दृढ़ हो, जिससे संसार में जीव दु:खी होंगे; इसलिए करुणा भाव से यथार्थ निरूपण किया है। कोई बिना दोष दु:ख पाता हो, विरोध उत्पन्न करे तो हम क्या करें ?

जैसे ह्न मदिरा की निन्दा करने से कलाल दु:खी हो, कुशील की निन्दा करने से वेश्यादिक दु:ख पायें और खोटा-खरा पहिचानने की परीक्षा बतलाने से ठग दु:खी हो तो हम क्या करें ?

इसीप्रकार यदि पापियों के भय से धर्मोपदेश न दें तो जीवों का भला कैसे होगा ? ऐसा तो कोई उपदेश है नहीं, जिससे सभी चैन पावें ?

तथा वे विरोध उत्पन्न करते हैं; सो विरोध तो परस्पर करे तो होता है; परन्तु हम लड़ेंगे नहीं, वे आप ही उपशांत हो जायेंगे। हमें तो अपने परिणामों का फल होगा।[१]''

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ-१३८

इसप्रकार हम देखते हैं कि उन्होंने विपरीत से विपरीत परिस्थितियों में शान्त रहने के संकल्प के साथ अत्यन्त करुणा भाव से इस प्रकरण पर कलम चलाई थी। फिर भी वे विरोधियों के षड्यंत्र के शिकार हो गये।

उस समय के बाद से परिस्थितियाँ तेजी से बदलती गईं और वाद-विवाद मात्र स्कूल-कॉलेजों में होनेवाली वाद-विवाद प्रतियोगिताओं तक सीमित होकर रह गये हैं। आज इसप्रकार के साहित्य का लेखन भी देखने में नहीं आता।

प्राचीनकाल में विभिन्न दर्शनों में मूलभूत अन्तर क्या है ? ह्न इस बात की खोज की जाती थी और उनकी प्रामाणिकता पर पूरी गंभीरता से विचार किया जाता था; पर आजकल विभिन्न दर्शनों में क्या अन्तर है ह्न इसकी चर्चा न करके, उनमें क्या समानता है ह्न यह खोजा जाने लगा है; क्योंकि आज मानस यह बन गया है कि विभिन्न दर्शनों में अन्तर है, इसकी चर्चा करने से देश व समाज की एकता खण्डित होती है और उन दर्शनों में से किसकी कितनी बात तर्क की कसौटी पर खरी उतरती है और कितनी नहीं; इसकी चर्चा मात्र से वातावरण विषाक्त हो जाता है।

अतः आजकल के विश्वधर्म सम्मेलनों में तो यही चर्चा होती है कि लगभग सभी दर्शन समान ही हैं।

अब स्वमतमण्डन और परमतखण्डन की कल्पना भी नहीं की जा सकती। अब तो **अहो रूपं, अहो ध्वनि** का जमाना आ गया है।

हाँ, विश्वविद्यालयों में अभी भी यही पढ़ाया जाता है कि विभिन्न दर्शनों में परस्पर अन्तर क्या है ? परीक्षाओं में प्रश्न भी इसीप्रकार के आते हैं कि जैनदर्शन और बौद्धदर्शन में मूलभूत अन्तर क्या है ?

यद्यपि यह सत्य है कि अन्तर की चर्चा से वातावरण विक्षुब्ध होता है; तथापि विक्षुब्धता का मूल कारण सहिष्णुता का अभाव है, दार्शनिक चर्चा नहीं। अतः **समाज को सहिष्णु बनाने का प्रयास होना चाहिये। सभी समान हैं ह्न ऐसा कहने से तो विभिन्न दर्शनों की पहिचान ही समाप्त**

हो जायेगी। यह किसी देश या समाज के लिये गौरव की बात नहीं है। इसमें सत्य की खोज का रास्ता ही बन्द हो जाने का खतरा है।

यदि सभी समान हैं तो फिर उक्त दर्शनों में परस्पर विरुद्ध कथन क्यों पाये जाते हैं ? कहा गया है कि ह्र

कपिलो यदि सर्वज्ञ: बुद्धो नेति का प्रमा?
बुद्धो यदि सर्वज्ञ: कपिलो नेति का प्रमा ?
तावुभौ यदि सर्वज्ञौ मतभेद: कथं तयो: ।।

यदि कपिल सर्वज्ञ हैं तो इस बात के क्या प्रमाण हैं कि बुद्ध सर्वज्ञ नहीं हैं। इसीप्रकार बुद्ध यदि सर्वज्ञ हैं तो इस बात के क्या प्रमाण हैं कि कपिल सर्वज्ञ नहीं है। यदि वे दोनों ही सर्वज्ञ हैं तो उन दोनों में मतभेद क्यों है ? इसीप्रकार यह भी कहा जा सकता है कि यदि सभी दर्शन समान हैं तो फिर ये दर्शन अनेक क्यों हैं ?

यद्यपि यह हो सकता है कि कुछ दर्शनों में कतिपय बातों में समानता हो, पर कुछ बातों की समानता के आधार पर उन्हें एक नहीं माना जा सकता। जितने भी ईश्वरवादी दर्शन हैं, उनमें ईश्वर को मानने संबंधी समानता तो होगी ही; पर अन्य बातों में जमीन-आसमान का अन्तर हो सकता है। इसीप्रकार **जैन, बौद्ध और चार्वाक अनीश्वरवादी दर्शन हैं; पर उनमें भी अनेक बातों में महान अन्तर है। बौद्ध क्षणिकवादी हैं, पर जैन कथंचित् क्षणिक और कथंचित् नित्य माननेवाले होने से स्याद्वादी हैं। चार्वाक भोगवादी हैं, पर जैनदर्शन त्याग में भरोसा रखता है।**

जैनदर्शन की जैनेतर दर्शनों से तुलना करते हुए पण्डित टोडरमलजी लिखते हैं कि जैनदर्शन में वीतरागता को धर्म कहा है और अन्य अनेक दर्शनों में रागभाव (शुभराग) में धर्म बताया गया है। जैनदर्शन कहता है कि **होता स्वयं जगत परिणाम** पर ईश्वरवादी कहते हैं कि इस जगत की रचना सर्वशक्तिमान ईश्वर ने की है।

ये दार्शनिक मुद्दे हैं, जिनमें मतभेद हैं; पर अहिंसा, सत्य, अस्तेय ह्र

ये सदाचार संबंधी बातें हैं; जो सभी में एक जैसी पायी जाती हैं; क्योंकि हिंसा, झूठ, चोरी को कौन भला कह सकता है ?

हिंसा, झूठ, चोरी को तो सरकार भी बुरा कहती है। यदि आप ये कार्य करेंगे तो सरकार आपको रोकेगी, शक्ति से रोकेगी।

सदाचार संबंधी एकता के आधार पर दर्शनों को एक नहीं माना जा सकता। दर्शन और धर्म हमारी निधि है, हमारी संस्कृति के अंग हैं, हमारी विकसित सभ्यता के प्रमाण हैं। इनकी उपेक्षा करके हम अपना सब कुछ खो देंगे।

दर्शनों की विभिन्नता हमारी संस्कृति के गुलदस्ते हैं, हमारी सहिष्णु सभ्यता के जीवन्त प्रमाण हैं, विभिन्नता में एकता और एकता में विभिन्नता भारतीय मिट्टी की सुगंध है। इसे नष्ट करके हम नहीं बच सकते। देश का विकास, गरीबों का उद्धार आदि सुनहरे नारे तो सभी राजनैतिक पार्टियाँ देती हैं, पर उनकी मूल विचारधाराओं में भारी अन्तर देखने में आता है; अन्यथा ये वामपंथी-दक्षिणपंथी एक क्यों नहीं हो जाते ?

जब वामपंथी और दक्षिणपंथी एक नहीं हो सकते हैं तो सभी दर्शन एक कैसे हो सकते हैं ? क्या राजनैतिक विचारधाराओं की विभिन्नता देश में कम झगड़े कराती है ? झगड़ा मिटाने के लिए पहले उन्हें एक कर दीजिये, फिर दर्शनों के बारे में सोचना।

चुनाव भाषणों में देश की एकता के लिए यह क्यों नहीं कहा जाता कि सभी पार्टियाँ एक ही हैं; क्योंकि सभी देश का विकास चाहती हैं, सभी गरीबों का उद्धार करना चाहती हैं। यदि उन्हें इस आधार पर एक नहीं किया जा सकता तो फिर दर्शनों को एक कैसे किया जा सकता है ?

एक भी राजनैतिक पार्टी यह मानने के लिए तैयार नहीं है कि वह चुनाव प्रचार में यह कहे कि हम सब एक हैं; क्योंकि हम सभी आपकी भलाई चाहते हैं। वहाँ तो सभी अपनी रीति-नीति कार्यप्रणाली की

उपयोगिता ही बताते हैं; पर धर्म की चर्चा में यह कहने में भी डर लगता है कि हमारी दार्शनिक मान्यता ही सत्य है।

मेरे उक्त चिन्तन पर गंभीरता से विचार करने की आवश्यकता है। **पण्डित टोडरमलजी तो साफ-साफ कहते हैं कि हम अपनी बात भी कहेंगे, उसे सत्य भी सिद्ध करेंगे; पर किसी से झगड़ा नहीं करेंगे।**

यदि सामनेवाला फिर भी झगड़ा करेगा तो हम चुप रहेंगे; उसकी बात का उत्तर नहीं देंगे, पर अपनी बात कहना भी बंद नहीं करेंगे।

यह मोक्षमार्गप्रकाशक का सार उन लोगों के समक्ष प्रस्तुत किया जा रहा है, जो जैन हैं; जैनदर्शन में जिनकी पूर्ण आस्था है। अत: उनके समक्ष अन्य दर्शनों की मीमांसा करना आवश्यक नहीं है। उदाहरण के तौर पर हम कह सकते हैं कि जब यहाँ बैठा कोई व्यक्ति ईश्वर को जगत का कर्ता-धर्ता मानता ही नहीं है तो फिर उसके सामने यह प्रस्तुत करने की क्या आवश्यकता है कि ईश्वर जगत का कर्ता-धर्ता नहीं है।

इसप्रकार जैनेतर मतों की समीक्षा पर अधिक बोलना-लिखना न तो आज के युग की परिस्थितियों के अनुकूल है और न इसकी विशेष आवश्यकता हमारे श्रोताओं और पाठकों को ही है। जिन लोगों को विशेष जिज्ञासा हो, वे लोग मूल ग्रन्थ का गहराई से स्वाध्याय करें।

इस अधिकार में जैनदर्शन की प्राचीनता सिद्ध करते हुए जैनेतर ग्रन्थों के अनेकानेक उद्धरण प्रस्तुत किये हैं; जो जैनदर्शन की प्राचीनता को तो सिद्ध करते ही हैं; साथ में पण्डितजी के जैन और जैनेतर ग्रन्थों के गंभीर अध्ययन को भी प्रस्तुत करते हैं।

आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि इस ग्रंथ मोक्षमार्गप्रकाशक में विभिन्न प्राचीनतम भाषाओं में लिखे विभिन्न दर्शनों के महाभारत जैसे विशाल ६७ ग्रन्थों के सैकड़ों उद्धरण दिये गये हैं; जिनमें प्राचीनतम ग्रंथ वेदों के उद्धरण भी शामिल हैं।

उक्त ६७ ग्रन्थों में ३८ ग्रंथ तो जैनेतर भारतीय दर्शनों के ग्रन्थ हैं तथा

१९ जैन ग्रन्थ हैं। इन ग्रन्थों की सूची मेरे शोध ग्रंथ 'पण्डित टोडरमल : व्यक्तित्व और कर्तृत्व' के पृष्ठ ३०-३१ पर दी गई है।

पण्डित टोडरमलजी के काल में ग्रन्थों की मुद्रण व्यवस्था नहीं थी। सभी ग्रंथ हस्तलिखित प्रतियों में ही प्राप्त होते थे। इसकारण उनकी उपलब्धता अत्यन्त कठिन थी। हमारी समझ में ही नहीं आता कि उन्होंने इतने ग्रन्थ कहाँ से और कैसे उपलब्ध किये थे।

वे कोई करोड़पति सेठ तो थे नहीं। उन्हें अपनी आजीविका के लिए जयपुर छोड़कर लगभग १५० किलोमीटर दूर सिंघाणा जाना पड़ा था। वहाँ वे एक साहूकार के यहाँ मुनीमी का कार्य करते थे। ऐसी परिस्थिति में ग्रंथों की उपलब्धता और भी कठिन हो जाती है।

उस जमाने में लोगों के घरों में तो शास्त्रों के उपलब्ध होने का कोई सवाल ही नहीं उठता, मंदिरों के शास्त्रभण्डारों में ही शास्त्र उपलब्ध होते थे। वे भी एक-एक, दो-दो प्रतियों में। उन्हें घर ले जाना संभव नहीं था, मंदिर में बैठकर ही उनका स्वाध्याय करना पड़ता था।

पठन-पाठन की कोई विशेष व्यवस्था नहीं थी ह्न ऐसी परिस्थितियों में इतने महान ग्रन्थों का इतना गहरा अध्ययन; उनकी प्रतिभा, निष्ठा, धर्मप्रियता और करुणाभाव को प्रदर्शित करता है।

जैन मान्यतानुसार तो जैनदर्शन अनादि से है। तीर्थंकर जैनदर्शन के प्रवर्तक नहीं, प्रचारक हैं। जैनेतर ग्रन्थों के आधार पर भी यह सिद्ध होता है कि जैनदर्शन सभी दर्शनों में प्राचीनतम दर्शन है। यह जानने के लिए पाँचवें अधिकार के इस प्रकरण का अध्ययन गहराई से अवश्य करना चाहिए।

जैनधर्म की प्राचीनता को सिद्ध करनेवाले इस प्रकरण के अध्ययन और प्रचार-प्रसार करने की सर्वाधिक आवश्यकता है; क्योंकि आजकल जैनेतर लोगों में यह प्रचार बड़े पैमाने पर हो रहा है कि **बौद्धधर्म भगवान बुद्ध ने चलाया और उसी समय जैनधर्म की स्थापना भगवान महावीर ने की थी। इस भ्रामक प्रचार के निषेध के लिए यह अत्यन्त उपयोगी प्रकरण है। इस दृष्टि से इस प्रकरण का पठन-पाठन अवश्य होना चाहिए।**

लगभग सभी प्राचीनतम जैनेतर भारतीय साहित्य में, यहाँ तक कि वेदों में भी जैनधर्म के उल्लेख पाये जाते हैं; इससे सहज ही यह सिद्ध होता है कि जैनदर्शन वेदों से भी पहले का तो है ही।

आपको यह जानकर भी सुखद आश्चर्य होगा कि अब तक प्राप्त प्राचीन मूर्तियों के अवशेषों में सबसे प्राचीन अवशेष जैनमूर्तियों के ही हैं।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि एक ओर तो पण्डित टोडरमलजी यह कहते हैं कि जिनमें विपरीत निरूपण द्वारा रागादि का पोषण किया गया हो, उन शास्त्रों का पढ़ना-पढ़ाना गृहीत मिथ्याज्ञान है और दूसरी ओर उन्होंने स्वयं जैनेतर साहित्य का इतना अध्ययन किया। इस विरोधाभास का क्या कारण है ?

अरे, भाई ! आपने पण्डितजी द्वारा लिखी गई गृहीत मिथ्याज्ञान की परिभाषा को ध्यान से नहीं पढ़ा। उसमें अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि **जिनमें विपरीत निरूपण द्वारा रागादि का पोषण किया गया हो; उन शास्त्रों को 'श्रद्धानपूर्वक' पढ़ना-पढ़ाना गृहीत मिथ्यात्व है।**

इसमें आपने 'श्रद्धानपूर्वक' शब्द पर ध्यान नहीं दिया। इसकारण ही यह प्रश्न उपस्थित हुआ है।

जैनेतर शास्त्रों के पढ़ने का निषेध नहीं है। यदि उनके पढ़ने का सर्वथा निषेध करेंगे तो न केवल पण्डित टोडरमलजी, अपितु न्यायशास्त्र के उन सभी आचार्यों पर भी प्रश्नचिन्ह लग जावेगा; जिन्होंने स्वमत मण्डन और परमत खण्डन संबंधी ग्रन्थों की रचना की है; क्योंकि जैनेतर ग्रन्थों के अध्ययन के बिना तो यह कार्य संभव ही नहीं था। **आचार्य अकलंकदेव तो दीक्षा से पहले बौद्धों के विद्यालयों में बौद्धदर्शन का गहरा अध्ययन करने के लिए गये थे।**

यदि ऐसा है तो आप यह प्रेरणा क्यों देते हैं कि यहाँ-वहाँ के साहित्य को पढ़ने में समय खराब मत करो; उन आध्यात्मिक शास्त्रों का स्वाध्याय करो कि जिनमें राग का पोषण नहीं है और उस शुद्धात्मा का स्वरूप

समझाया गया है; जिसके दर्शन का नाम सम्यग्दर्शन, जानने का नाम सम्यग्ज्ञान और जिनमें जम जाने, रम जाने का नाम सम्यक्चारित्र है।

अरे, भाई ! यह बात उनके लिए कही जाती है; जिनके पास समय बहुत कम है। जो लोग या तो वृद्धावस्था के नजदीक पहुँच गये हैं या फिर धंधे-पानी में उलझे हुए हैं; उन लोगों के पास जो भी थोड़ा-बहुत समय है या उनमें से जो लोग थोड़ा-बहुत समय निकालते हैं; उन्हें उन्हीं शास्त्रों का स्वाध्याय करना चाहिए कि जिनमें सीधी आत्महित की ही बात हो।

जिसप्रकार यद्यपि छात्रों को पाठ्यक्रम के बाहर की पुस्तकों के पढ़ने का निषेध नहीं है; तथापि परीक्षा निकट हो और छात्र पढ़ाई में कमजोर हो तो उससे कहा जाता है कि यहाँ-वहाँ की पुस्तकें पढ़ने में समय बर्बाद मत करो, पाठ्यक्रम की किताबों को ही मन लगाकर पढ़ो; उसीप्रकार यद्यपि जैनेतर शास्त्रों के पढ़ने का निषेध नहीं है; तथापि यहाँ जिन लोगों को धार्मिक ज्ञान अल्प है, जिनके पास समय भी कम है, जिनका बुढ़ापा नजदीक है; उन लोगों को यह कहा जा रहा है कि प्रयोजनभूत तत्त्वों के प्रतिपादक शास्त्रों का ही स्वाध्याय करो, यहाँ-वहाँ मत भटको।

जिन लोगों ने सम्पूर्ण जीवन ही जिनागम के स्वाध्याय के लिए समर्पित कर दिया है; अत: जिनके पास समय की कोई कमी नहीं है; उन लोगों को न्याय, व्याकरण के साथ-साथ जैनेतर दर्शनों का भी ज्ञान अर्जित करना चाहिए। इससे उनके ज्ञान में तो निर्मलता आती ही है; वे आचार्यों की बातों को किसी के दूसरे के सहयोग के बिना समझ सकते हैं। **न्यायशास्त्र में निपुण होने से प्रयोजनभूत तत्त्वों को भी तर्क की कसौटी पर कसकर सम्यक् निर्णय कर सकते हैं। स्वयं के हित के साथ-साथ परहित में भी निमित्त बन सकते हैं, जिनवाणी की सुरक्षा में भी सहयोग कर सकते हैं।**

हम हमारे यहाँ अध्ययन करनेवाले छात्रों को व्याकरण, न्याय एवं अन्य दर्शन के ग्रन्थों का भी अध्ययन कराते हैं; पर मुख्यता जिन-अध्यात्म की ही रखते हैं। ●

आठवाँ प्रवचन

यह मोक्षमार्गप्रकाशक नामक शास्त्र है। इसमें **पाँचवें अधिकार** से गृहीत मिथ्यादर्शन, गृहीत मिथ्याज्ञान और गृहीत मिथ्याचारित्र का विवेचन आरंभ हुआ है; जिसमें अभी जैनेतर मतों की समीक्षा संबंधी प्रकरण चल रहा है। इस पाँचवें अधिकार की विषयवस्तु का उल्लेख करते हुए '**पण्डित टोडरमल : व्यक्तित्व और कर्तृत्व**' में लिखा गया है ह्न

''**पाँचवें अधिकार में गृहीत मिथ्यात्व का विस्तृत वर्णन किया गया है। इसके अंतर्गत विविध मतों की समीक्षा की गई है ह्न** जिसमें सर्वव्यापी अद्वैतब्रह्म, सृष्टिकर्तावाद, अवतारवाद, यज्ञ में पशु-हिंसा, भक्तियोग, ज्ञानयोग, मुस्लिममत, सांख्यमत, नैयायिकमत, वैशेषिकमत, मीमांसक-मत, जैमिनीयमत, बौद्धमत, चार्वाकमत की समीक्षा की गई है तथा उक्त मतों और जैनमत के बीच तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

अन्य मतों के प्राचीनतम महत्त्वपूर्ण ग्रंथों के आधार पर जैनमत की प्राचीनता और समीचीनता सिद्ध की गई है। तदनन्तर जैनियों के अंतर्गत सम्प्रदाय श्वेताम्बरमत पर विचार करते हुए स्त्रीमुक्ति, शूद्रमुक्ति, सवस्त्रमुक्ति, केवली-कवलाहार-निहार, ढूंढ़कमत, मूर्तिपूजा, मुँहपट्टी आदि विषयों पर युक्तिपूर्वक विचार किया गया है।[१]''

अन्यमतों से जैनमत की तुलना करते हुए कहा था कि जैनदर्शन वीतरागभाव को धर्म मानता है; इसलिए सम्पूर्ण जिनवाणी में यत्र-तत्र-सर्वत्र वीतराग भाव का ही पोषण किया गया है।

मैंने स्वयं देव-शास्त्र-गुरु पूजन की जयमाला में जिनवाणी की स्तुति के प्रकरण में लिखा है कि ह्न

राग धर्ममय धर्म रागमय अबतक ऐसा जाना था।
शुभकर्म कमाते सुख होगा बस अबतक ऐसा माना था।।

---

१. पण्डित टोडरमल : व्यक्तित्व और कर्तृत्व, पृष्ठ २५-२६

पर आज समझ में आया है कि वीतरागता धर्म अहा।
रागभाव में धर्म मानना जिनमत में मिथ्यात्व कहा।।
वीतरागता की पोषक ही जिनवाणी कहलाती है।
यह है मुक्ति का मार्ग निरन्तर हमको जो दिखलाती है।।

पंचास्तिकाय की समयव्याख्या नामक टीका में लिखा है कि **समस्त शास्त्रों का तात्पर्य एकमात्र वीतरागता ही है।**[१]

पण्डित टोडरमलजी तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ह्न इन तीनों को ही वीतरागता के रूप में देखते हैं। वे लिखते हैं ह्न

''**इसलिए बहुत क्या कहें ह्न जिसप्रकार से रागादि मिटाने का श्रद्धान हो, वही श्रद्धान सम्यग्दर्शन है; जिसप्रकार से रागादि मिटाने का जानना हो, वही जानना सम्यग्ज्ञान है तथा जिसप्रकार से रागादि मिटें, वही आचरण सम्यक्चारित्र है ह्न ऐसा ही मोक्षमार्ग मानना योग्य है।**[२]''

पण्डितजी के उक्त कथन में सम्यग्दर्शनादि तीनों की परिभाषाओं में रागादि का मिटना ही मुख्यरूप से विद्यमान है। जैनदर्शन की मूल भावना तो यही है।

उक्त संदर्भ में पण्डितजी की निम्नांकित पंक्तियाँ भी द्रष्टव्य हैं ह्न

''जैनमत में एक वीतरागभाव के पोषण का प्रयोजन है; सो कथाओं में, लोकादिक के निरूपण में, आचरण में व तत्त्वों में; जहाँ-तहाँ वीतराग भाव की पुष्टि की है। तथा अन्यमतों में सरागभाव के पोषण का प्रयोजन है।[३]''

उक्त संदर्भ में पण्डितजी महाकवि भतृहरि के वैराग्यशतक का एक छन्द प्रस्तुत करते हैं; जो इसप्रकार है ह्न

''एको रागिषु राजते प्रियतमादेहार्द्धधारी हरो,
नीरागेषु जिनो विमुक्तललनासङ्गो न यस्मात्परः।

---

१. आचार्य कुन्दकुन्द : पंचास्तिकाय, गाथा १७२ की टीका
२. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ-२१३
३. वही, पृष्ठ १३७

दुर्वारस्मरबाणपन्नगविषव्यासक्तमुग्धो जनः,
शेषः कामविडंबितो हि विषयान् भोक्तुं न मोक्तुं क्षमः ।।१ ।।

रागी पुरुषों में तो एक महादेव शोभित होते हैं, जिन्होंने अपनी प्रियतमा पार्वती को आधे शरीर में धारण कर रखा है और वीतरागियों में जिनदेव शोभित हैं, जिनके समान स्त्रियों का संग छोड़नेवाला दूसरा कोई नहीं है। शेष लोग तो दुर्निवार कामदेव के बाणरूप सर्पों के विष से मूर्च्छित हुए हैं, जो काम की विडम्बना से न तो विषयों को भलीभाँति भोग ही सकते हैं और न छोड़ ही सकते हैं।''

उक्त छन्द में सरागी देवी-देवताओं में महादेव को प्रधान कहा है और वीतरागियों में जिनदेव को प्रधान कहा है। इससे भी सिद्ध होता है कि **जैनदर्शन में वीतरागता को ही धर्म माना गया है।**

यह बात इतनी स्पष्ट है कि इसे जैनेतर साहित्यकार भी अच्छी तरह जानते थे, जानते हैं और जानते रहेंगे; पर आज जो देखने में आ रहा है, उससे लगता है कि जैनी लोग अपनी इस बात को भूलते जा रहे हैं और शुभराग को धर्म मानकर, उसी में मग्न हैं।

मैं उनसे कहना चाहता हूँ कि आप अपने बाप-दादाओं के बही-खाते उठाकर देखिये। उनमें सबसे पहले **'श्री वीतरागाय नमः'** लिखा मिलेगा।

पुराने जमाने में दीपावली के अवसर पर घर के दरवाजे पर **'श्री वीतरागाय नमः'** लिखा जाता था और जब कोई पत्र लिखते थे तो सबसे पहले सबसे ऊपर **'श्री वीतरागायः नमः'** लिखते थे। शादी की लग्न पत्रिका में भी तथा निमंत्रण पत्रिकाओं में भी सबसे ऊपर **'श्री वीतरागाय नमः'** लिखा जाता था। 'वीतरागता ही धर्म है' ह्न यह बात पीढ़ियों से हमारे रोम-रोम में समाहित रही है। हम सब अपने जन्म से यही प्रार्थना करते आ रहे हैं कि ह्न

इन्द्रादिक पद नहीं चाहूँ, विषयन में नाहिं लुभाऊँ।
रागादिक दोष हरीजै, परमातम निजपद दीजै।।[1]

१. पण्डित दौलतराम : देवस्तुति का अंतिम छन्द

पर आज न मालूम क्या हो गया हमें; जो हम राग को ही धर्म मानने पर उतारू हैं। इस बात पर गंभीरता से विचार करने की आवश्यकता है।

जैनियों में भी दिगम्बर और श्वेताम्बर नाम से दो सम्प्रदाय हैं। पण्डितजी ने दोनों सम्प्रदायों में समागत गृहीत मिथ्यात्व संबंधी विकृतियों की भी खुलकर आलोचना की है। पर विशेष ध्यान देने योग्य बात तो यह है कि **श्वेताम्बर सम्प्रदाय संबंधी गृहीत मिथ्यात्व की चर्चा इसी पाँचवें अधिकार में की है और दिगम्बरों में प्राप्त होनेवाले गृहीत मिथ्यात्व संबंधी विकृतियों की चर्चा छठवें-सातवें अधिकार में की गई है।**

दिगम्बर-श्वेताम्बर रूप में हुआ जैनियों का यह विभाजन अन्तिम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु के अन्तिम काल में हुआ था।

आचार्य भद्रबाहु के नेतृत्व में जैन मुनियों का एक विशाल संघ उज्जैनी नगरी में चातुर्मास कर रहा था। आहार को जाते समय आचार्य श्री भद्रबाहु ने एक नग्न बालक को भूख से बिलखते हुए देखा। उस दृश्य को देखकर उन्होंने अपने निमित्तज्ञान से जाना कि यहाँ निकट भविष्य में १२ वर्ष तक का भीषण अकाल पड़नेवाला है।

जब उन्होंने यह बात सभी संघ को बताई और कहा कि यहाँ अपना निर्वाह होना संभव नहीं है; अतः हम सभी को कम से कम १२ वर्ष के लिए दक्षिण भारत की ओर चले जाना चाहिए।

उस समय मगध सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य भी वहीं पर थे। यह सुनकर वे भी दीक्षित हो गये।

जब सभी संघ दक्षिण की ओर विहार करने लगा; तब जनता के अनुरोध पर संघ का एक छोटा हिस्सा वहीं रह गया। शेष सभी मुनिराज आचार्य भद्रबाहु के साथ दक्षिण भारत की ओर विहार कर गये। नव दीक्षित सम्राट चन्द्रगुप्त भी उनके साथ थे।

भीषण अकाल के कारण उज्जैनी की स्थिति जब ऐसी हो गई कि मुनिराज आहार करके लौटकर जंगल की ओर जाते थे तो लोग उनका

भरा पेट देखकर, पेट को चीरकर भोजन निकाल कर खा जाते थे।

आपातकाल की ऐसी स्थिति में संघ ने आपातकालीन व्यवस्था बनाई कि जब मुनिराज आहार को जावे, तब एक वस्त्र लपेट कर जावें, बर्तन लेकर जावें, भोजन उसमें लावें और आकर जंगल में आहार करें। आहार के लिए नगर में जाते समय एक एढ़ी-टेढ़ी लाठी भी साथ में रखें।

उसके पीछे चिन्तन यह था कि आहार लकड़ी के बर्तन में लायेंगे तो लोग बर्तन ही छीनेंगे, पेट को तो नहीं चीरेंगे। कपड़ा इसलिए कि भोजन के बर्तन को ढंक कर लाया जा सके।

यद्यपि मुनिराजों को किसी से लड़ना नहीं है, लाठी से किसी को मारना भी नहीं है; तथापि निर्विष सर्प को भी फुंफकारना तो सीखना ही चाहिए, अन्यथा उनका रहना ही मुश्किल हो जायेगा। इस सिद्धान्त के अनुसार लाठी हाथ में रखना जरूरी समझा गया। लाठी का टेढ़ी-मेढ़ी होना भी इसलिए जरूरी था कि जिसे कोई चुराये नहीं। सुन्दरतम लाठी के चुराये जाने की संभावना अधिक रहती है।

बर्तन भी लकड़ी के इसलिए कि उन्हें कोई चुराये नहीं; धातु के बर्तन कीमती होने से उनके चुराये जाने की संभावना अधिक हो जाती है।

आपातकाल समाप्त हो जाने पर जब यह कहा गया कि अब हम अपने मूलरूप नग्न दिगम्बर अवस्था में आ जायें तो बहुत कुछ लोग मूल अवस्था में आ गये, पर कुछ सुविधाभोगी तर्क करने लगे कि जब हम बारह वर्ष तक उक्त स्थिति में रहते हुए मुनिराज रह सकते हैं तो सदा क्यों नहीं रह सकते ?

इसप्रकार अकाल के समय उज्जैन में रह गया संघ भी विभाजित हो गया। जो लोग सफेद वस्त्र धारण करके भी अपने को मुनिराज मानने लगे थे, वे श्वेताम्बर कहलाये और शेष नग्न दिगम्बर संत दिगम्बर कहे जाने लगे। आचार्य भद्रबाहु के साथ गये लोग तो दिगम्बर थे ही।

इस घटना के पहले न तो किसी को दिगम्बर कहा जाता था, न किसी को श्वेताम्बर; सभी दिगम्बर ही रहते थे; पर सभी का नाम तो एक जैन साधु ही था।

श्वेताम्बर मुनिराज भी आरंभिक अवस्था में उस समय ही वस्त्र ग्रहण करते थे कि जब भोजन सामग्री लेने नगर में जाते थे, शेष काल जंगल में तो वे नग्न ही रहते थे; पर धीरे-धीरे ऐसी स्थिति आ गई कि वे चौबीसों घंटे वस्त्रों में रहने लगे।

इसप्रकार जब सवस्त्र मुक्ति आ गई तो फिर उसके सहारे स्त्री मुक्ति और गृहस्थ मुक्ति भी आ गई।

भाग्य की बात है कि तबतक भगवान महावीर की वाणी कंठाग्र ही चल रही थी। जितना भी जैन साहित्य अभी उपलब्ध होता है, वह सभी आचार्य भद्रबाहु के बाद का ही है। अत: दोनों परम्पराओं का साहित्य भी स्वत: ही अलग-अलग हो गया।

दिगम्बराचार्यों ने जो साहित्य लिखा, वह तो उन्होंने स्वयं के नाम से ही लिखा और भगवान महावीर की आचार्य परम्परा से उसे जोड़ा। यही कहा कि भगवान महावीर के प्रमुख शिष्य इन्द्रभूति आदि गणधरों से लेकर हमारे गुरु पर्यन्त जो अविच्छिन्न परम्परा चली आ रही है; हमें यह ज्ञान उसी से प्राप्त हुआ है और उसे ही हम लिखित रूप से व्यवस्थित कर रहे हैं; पर श्वेताम्बर आचार्यों ने जो साहित्य लिखा, उसे गणधरों द्वारा लिखित घोषित किया। नाम भी वैसे ही रखे जो द्वादशांग जिनवाणी में बताये गये हैं। जैसे आचारांग, सूत्रकृतांग आदि।

पर उन ग्रन्थों का जो स्तर है; वह द्वादशांग के पाठी गणधरदेव की प्रतिष्ठा के अनुरूप नहीं है। यही कारण है कि श्वेताम्बर मत की समीक्षा करते समय पण्डित टोडरमलजी सबसे पहले उनके यहाँ उपलब्ध साहित्य के संबंध में बात करते हैं। अनेक तर्क और युक्तियों से यह प्रमाणित करते हैं कि आज जो ग्रन्थ उनके यहाँ उपलब्ध होते हैं; वे महावीर के प्रथम गणधर द्वादशांग श्रुत के ज्ञाता श्रुतकेवली इन्द्रभूति गौतम के द्वारा लिखित नहीं हो सकते।

द्वादशांगरूप जो श्रुतज्ञान है; उसमें आचारांग के अठारह हजार पद माने गये हैं; श्वेताम्बरों के यहाँ जो आचारांग सूत्र प्राप्त होता है, वह बहुत छोटा है।

इस पर वे कहते हैं कि उसका कुछ अंश रखा गया है। तब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यह अधूरा है या पूरा ?

यदि खो गया है तो यह प्रश्न भी उपस्थित होता है कि आरंभ का खोया है, मध्य का खोया है या फिर अन्त का खो गया है ? यदि मध्य का खोया तो प्राप्तांश टूटक रहा। ऐसा टूटा-फूटा ग्रन्थ प्रामाणिक कैसे माना जा सकता है ?

ऐसी और भी अनेक निराधार बातें हैं, जो तर्क की कसौटी पर खरी नहीं उतरतीं। जिन्हें सिद्ध करना संभव नहीं है; उन बातों को अछेरा कहकर सामनेवाले का मुँह बंद करने का प्रयास किया गया है।

'अछेरा' का अर्थ यह है कि इसे छेड़ो मत, इसके बारे में तर्क-वितर्क मत करो; बस यों ही मान लो कि ये ऐसा ही है, अतिशय है। इस बारे में भी पण्डितजी ने समीक्षा की है, जो मूलत: पठनीय है।

इसके बाद श्वेताम्बरों द्वारा माने गये देव, गुरु और धर्म के संबंध में विस्तार से विचार किया गया है।

उक्त सन्दर्भ में विस्तारभय से यहाँ कुछ विशेष कहना संभव नहीं है; जिन्हें विशेष जिज्ञासा हो, वे मोक्षमार्गप्रकाशक के उक्त प्रकरण का गंभीरता से अध्ययन अवश्य करें।

इसके बाद वे ढूंढ़कमत अर्थात् स्थानकवासी सम्प्रदाय की समीक्षा करते हैं। श्वेताम्बर समाज में मुँहपट्टी का प्रयोग करनेवाले स्थानकवासी और तेरापंथी नाम से दो संप्रदाय हैं। स्थानकवासी सम्प्रदाय के संत कपड़े की जिन मुँहपट्टियों का प्रयोग करते हैं, वे मुँहपट्टियाँ अपेक्षाकृत अधिक चौड़ी होती हैं और उनमें डोरी मात्र ऊपर की ओर ही रहती है; किन्तु श्वेताम्बर तेरापंथी सम्प्रदायवालों की मुँहपट्टियाँ अपेक्षाकृत कम चौड़ाई की होती हैं और उनमें नीचे और ऊपर ह्न दोनों ओर डोरी लगी होती है।

पण्डित टोडरमलजी के समय या तो श्वेताम्बर तेरापंथ सम्प्रदाय होगा ही नहीं। यदि होगा भी तो, वह अत्यन्त आरंभिक अवस्था में होगा। यही कारण है कि उन्होंने मोक्षमार्गप्रकाशक में उनकी कोई चर्चा नहीं की।

स्थानकवासी (ढूढ़िया) सम्प्रदाय उनके दो-ढ़ाई सौ वर्ष पहले आरंभ हो चुका था। उसकी मान्यताओं की समीक्षा इस मोक्षमार्गप्रकाशक ग्रंथ में विस्तार से की गई है।

स्थानकवासी सम्प्रदाय में मुँहपट्टी के साथ-साथ दूसरा अन्तर मूर्ति-मंदिर के निषेध का है। वे मंदिर नहीं बनवाते, मूर्तियाँ प्रतिष्ठित नहीं करते, मंदिरों के स्थान पर स्थानक बनवाते हैं। उनकी इस प्रवृत्ति की भी समीक्षा यहाँ की गई है।

पण्डितजी कहते हैं कि अहिंसा का एकान्त पकड़ कर प्रतिमा, चैत्यालय (मंदिर) और पूजनादि क्रिया का निषेध करना ठीक नहीं है; क्योंकि उनके (स्थानकवासियों के) शास्त्रों में भी प्रतिमा आदि का निरूपण पाया जाता है। भगवती सूत्र में ऋद्धिधारी मुनि का निरूपण है।

उक्त प्रकरण में ऐसा पाठ है कि मेरुगिरि आदि में जाकर **'तत्थ चेययाइं वंदई' इसका अर्थ यह है कि वहाँ जाकर चैत्यों की वंदना करते हैं। 'चैत्य' शब्द का प्रयोग प्रतिमा के अर्थ में होता है ह्न यह बात तो सर्वजन प्रसिद्ध ही है।**

इस पर वे कहते हैं कि **चैत्य** शब्द के **ज्ञानादि** अनेक अर्थ होते हैं ? अत: चैत्य शब्द का अर्थ प्रतिमा न लेकर ज्ञान लेना चाहिए; किन्तु उनका यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि ज्ञान की वंदना तो कहीं भी की जा सकती है। **ज्ञान की वंदना के लिए मेरुगिरि पर या नन्दीश्वर द्वीप में जाने की क्या आवश्यकता है ?**

अत: यहाँ चैत्य शब्द का प्रतिमा अर्थ ही सही है। चैत्यों के विराजमान होने से उक्त जिनमंदिरों को चैत्यालय कहा जाता है।

अरे भाई ! जिसप्रकार काष्ठ-पाषाण आदि की महिलाओं की मूर्ति

को देखकर विकारभाव होता है; उसीप्रकार जिनप्रतिमा को देखकर भक्तिभाव क्यों नहीं होगा ?

इसप्रकार पण्डितजी अनेक आगम प्रमाण और युक्तियों के आधार से मूर्ति और मंदिरों की स्थापना करते हैं।

यद्यपि पण्डितजी ने मोक्षमार्गप्रकाशक में मंदिरमार्गी मूर्तिपूजक और स्थानकवासी श्वेताम्बरों की चर्चा बहुत विस्तार से की है; तथापि हमें यहाँ उक्त संदर्भ में विशेष चर्चा करना अभीष्ट नहीं है। जिन भाई-बहिनों को उक्त संदर्भ में विशेष जानना हो; वे मोक्षमार्गप्रकाशक के उक्त प्रकरणों का निष्पक्षभाव से गंभीर अध्ययन करें।

इसप्रकार हम देखते हैं कि इस पाँचवें अधिकार में अन्य मतों की समीक्षा के साथ-साथ मूर्तिपूजक मंदिरमार्गी श्वेताम्बर मत और स्थानकवासी श्वेताम्बर मतवालों की भी समीक्षा की गई है।

इसके बाद छठवाँ अधिकार आरंभ होता है। इस अधिकार में गृहीत मिथ्यात्व के ही अन्तर्गत कुदेव, कुगुरु और कुधर्म का स्वरूप बताकर उनकी उपासना का निषेध किया गया है। इसके ही अंतर्गत गणगौर, शीतला, भूत-प्रेतादि व्यंतर, सूर्य-चन्द्र-शनिश्चरादि ग्रह, पीर-पैगम्बर, गाय आदि पशु, अग्नि, जलादि के पूज्यत्व पर भी विचार किया गया है।

इसके अतिरिक्त क्षेत्रपाल, पद्मावती आदि एवं यक्ष-यक्षिका की पूजा-उपासना आदि के संदर्भ में सयुक्ति विवेचन प्रस्तुत किया गया है और इनको पूजने का निराकरण किया गया है।

पाँचवें अधिकार में जैनेतर एवं श्वेताम्बर मत की समीक्षा के उपरान्त अब इस छठवें अधिकार में दिगम्बर धर्म के अनुयायियों में प्राप्त होनेवाली गृहीत मिथ्यात्व संबंधी विकृतियों की चर्चा आरंभ करते हैं।

कुदेव, कुगुरु और कुधर्म के संदर्भ में सर्वप्रथम यह समझ लेना अत्यन्त आवश्यक है कि अदेव को देव, अगुरु को गुरु और अधर्म को धर्म मान लेना ही कुदेव, कुगुरु और कुधर्म की उपासना है। तात्पर्य यह है कि जैनदर्शन में वीतरागी-सर्वज्ञ अरहंत और सिद्ध परमेष्ठी सच्चे देव हैं, वीतरागता के मार्ग पर चलनेवाले छटवें-सातवें गुणस्थान और उसके

आगे बारहवें गुणस्थान तक के संत ही देव-गुरु-धर्मवाले गुरु हैं तथा वीतरागतारूप और वीतरागता की पोषक परिणति ही धर्म है।

कहीं-कहीं अरहंत भगवान को भी परमगुरु कहा गया है। अत: हम यह भी कह सकते हैं कि पंच परमेष्ठियों में सिद्ध भगवान देव हैं और शेष चार परमेष्ठी ह्न अरहंत, आचार्य, उपाध्याय और साधु गुरु हैं।

यह तो आप जानते ही हैं कि लोक में विद्यागुरु को भी गुरु कहा जाता है; माता-पिता, बड़े भाई आदि पारिवारिक पूज्यपुरुषों को भी गुरु शब्द से अभिहित किया जाता है। अत: यह ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है कि यहाँ जिन गुरुओं की बात चल रही है; वे गुरु देव-शास्त्र-गुरुवाले गुरु ही हैं; अन्य अध्यापकादि और घर के पूज्यपुरुष नहीं।

जैनदर्शन अकर्तावादी दर्शन है। उसके अनुसार कोई भी द्रव्य अन्य द्रव्य की परिणति का कर्त्ता-धर्त्ता नहीं है। निश्चय अर्थात् परमसत्य बात तो यही है; यदि कहीं किसी द्रव्य को किसी अन्य द्रव्य का कर्ता-धर्ता कहा गया हो तो उसे प्रयोजनवश निमित्तादि की अपेक्षा व्यवहारनय से किया गया उपचरित कथन ही समझना चाहिए।

जैनदर्शन में सच्चे देव को वीतरागी और सर्वज्ञ होने के साथ-साथ हितोपदेशी अर्थात् हित का उपदेश देनेवाला तो कहा गया है; किन्तु पर के हित-अहित का कर्त्ता-धर्त्ता नहीं माना गया।

अत: यदि कहीं इसप्रकार का व्यवहार कथन प्राप्त हो जाय कि भगवान ने उसका भला किया तो उसका अर्थ यही समझना चाहिए कि भगवान की दिव्यध्वनि में समागत तत्त्वज्ञान को समझ कर उस व्यक्ति ने स्वयं ही स्वयं का भला किया है, भगवान ने उसमें कुछ नहीं किया है।

उक्त तथ्य पर पण्डितजी ने आगे चलकर सातवें अधिकार में अनेक तर्क और युक्तियों के माध्यम से पर्याप्त प्रकाश डाला है।

यदि कोई व्यक्ति अरहंतादिक को भी पर का कर्त्ता-धर्त्ता मानकर पूजे तो उसकी वह मान्यता कुदेव संबंधी मान्यता होगी।

इस पर यह प्रश्न हो सकता है कि यदि कोई व्यक्ति भगवान आदिनाथ से महावीर तक चौबीस तीर्थंकरों को भी अपने हित-अहित का कर्त्ता माने तो क्या वे भी कुदेव कहलायेंगे ?

नहीं, कदापि नहीं; क्योंकि वे तो सर्वज्ञ, वीतरागी और हितोपदेशी होने से सच्चे देव ही हैं; तथापि उसकी वह मान्यता गृहीत मिथ्यात्वरूप कुदेव संबंधी मिथ्या मान्यता अवश्य है; क्योंकि उससे वह अपनी **'एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्त्ता-धर्त्ता है' ह्न** इस अनादिकालीन मिथ्या मान्यता का पोषण कर रहा है।

अरे, भाई ! कोई व्यक्ति कुदेव नहीं होता; वह तो यदि सच्चा देव नहीं है, सर्वज्ञ और वीतरागी नहीं है तो अदेव है। इसप्रकार अरहंत और सिद्धों को छोड़कर समस्त संसारी जीव अदेव हैं। उनमें से किसी को भी हम अरहंत-सिद्ध जैसा सच्चा देव माने, सच्चा देव मानकर पूजें तो हमारी वह मान्यता देवसंबंधी कुदेव को माननेरूप गृहीत मिथ्यात्व है।

इस पर कोई कह सकता है कि तो क्या हम देवगति के देवों को भी देव नहीं कह सकते, देव नहीं मान सकते ?

नहीं; भाई ! ऐसी बात नहीं है। देवगति के देवों को देव कहने या मानने में कोई आपत्ति नहीं है; परन्तु धार्मिक आधार पर अरहंत-सिद्ध जैसी पूज्यता उनमें नहीं है।

यहाँ इस प्रकरण में गृहीत मिथ्यात्व के संदर्भ में सच्चे देव और कुदेव की बात चल रही है। इससे देवगति के देवों का कोई लेना-देना नहीं है। वस्तुत: बात तो ऐसी है कि ये वीतरागी-सर्वज्ञ सच्चे देव देवगति में नहीं; मनुष्यगति में होते हैं, पंचमगति (सिद्ध-अवस्था) में होते हैं। अरहंत भगवान मनुष्यगति के जीव हैं और सिद्ध भगवान पंचमगति के जीव हैं।

पण्डित टोडरमलजी के काल में दिगम्बर जैनियों में भी ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई थी कि लोग देव के नाम पर भूत-प्रेतादि व्यन्तरदेवों की उपासना करने लगे थे। आज भी स्थिति कोई विशेष अच्छी हो ह्न ऐसा

नहीं माना जा सकता; क्योंकि आज भी बहुत से लोग धर्म के नाम पर इसप्रकार की प्रवृत्तियों में लगे रहते हैं और इसप्रकार की प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन देनेवाले कुगुरुओं की भी कहीं कोई कमी नहीं है।

उक्त सभी प्रवृत्तियाँ गृहीत मिथ्यात्व संबंधी प्रवृत्तियाँ हैं। इनके संदर्भ में पण्डित टोडरमलजी ने इस अधिकार में खुलकर चर्चा की है।

वे लिखते हैं कि **बहुत से जीव इस पर्याय संबंधी शत्रुनाशादिक, रोगादि मिटाने, धनादि व पुत्रादिक की प्राप्ति के लिए कुदेवादिक को पूजते हैं; भूत-प्रेतादि व्यंतरों को पूजते हैं; सूर्य-चन्द्रमादि ज्योतिषियों को पूजते हैं; पीर-पैगम्बर को पूजते हैं; गाय, घोड़ा, सर्पादि तिर्यंचों को पूजते हैं, अग्नि-जलादिक को पूजते हैं, हथियारों को पूजते हैं; अधिक क्या कहें ह्न रोड़ा आदि को भी पूजते हैं।**

इन सबको पूजने का निषेध करते हुए वे लिखते हैं कि यदि अपने पाप का उदय हो तो वे सुख नहीं दे सकते और पुण्य का उदय हो तो दु:ख नहीं दे सकते तथा उनको पूजने से पुण्यबंध भी नहीं होता, रागादिक की वृद्धि होने से पापबंध ही होता है; इसलिए उनका मानना-पूजना कार्यकारी नहीं है, बुरा करनेवाला है।

कुदेवों के प्रकरण का समापन करते हुए पण्डितजी लिखते हैं कि देखो तो मिथ्यात्व की महिमा ! **लोक में तो अपने से नीचे को नमन करने में अपने को निंद्य मानते हैं और यहाँ मोहित होकर रोडों को तक पूजते फिरते हैं।**

इस पर कोई कहता है कि उनके पूजने से भले ही कोई लाभ न हो, पर हानि भी नहीं है।

इसतरह की बातें दवाईयों के बारे में भी बहुत चलती हैं। लोग कहते हैं कि होम्योपैथिक दवाई से यदि फायदा नहीं होगा तो नुकसान भी नहीं होगा; पर ऐसा कैसे हो सकता है ? जो नुकसान नहीं करेगी, वह दवाई बीमारी को भी नुकसान कैसे पहुँचा सकती है ? जब बीमारी को भी नुकसान नहीं पहुँचायेगी तो फिर बीमारी का अभाव कैसे होगा ?

अत: यह बात पक्की ही है कि जो वस्तु नुकसान नहीं पहुँचा सकती, वह लाभ भी नहीं पहुँचा सकती।

कुछ लोग कहते हैं कि मैं तो किसी से भी राग-द्वेष नहीं रखता। डॉक्टर की दवाई तो लेता ही हूँ, साथ में वैद्यजी की भी ले लेता हूँ। होम्योपैथिक की मीठी-मीठी गोलियाँ तो चलती ही रहती हैं। साथ में झाड़फूँक, एक्यूप्रेशर और रेकी भी करवा लेता हूँ। सभी कुछ एक साथ चलता है; जिससे लाभ होना होगा, हो जायेगा।

इसीप्रकार धर्म के संबंध में भी लोग बहुत उदार हैं। जिनेन्द्र भगवान के साथ-साथ सभी देवी-देवता और पीर-पैगम्बर की भी आराधना चलती रहती है; क्योंकि उनकी मान्यता ऐसी है कि जिससे जो लाभ होता होगा, हो जायेगा; हानि तो कुछ है ही नहीं।

अरे, भाई ! ऐसा नहीं होता। मान लीजिए हमें उच्च रक्तचाप रहता है तो डॉक्टर उसे ठीक करने की दवाई देगा और वैद्य भी देगा; तब क्या दवाई की मात्रा (डोज) दुगुनी (डबल) नहीं हो जायेगी ? दुगुनी मात्रा से रक्तचाप इतना कम हो सकता है कि जीवन भी संकट में पड़ जावे।

जब दवाइयों में ऐसा नहीं चल सकता है तो धर्म के बारे में कैसे चलेगा ? रागी और वीतरागी की पूजा एक साथ कैसे हो सकती है ?

इसलिए ऐसा मानना सही नहीं है कि यदि लाभ नहीं होगा तो नुकसान भी नहीं होगा।

उक्त संदर्भ में पण्डित टोडरमलजी का कहना यह है कि अरे भाई, यदि बिगाड़ नहीं होता तो हम निषेध क्यों करते ? सबसे बड़ा बिगाड़ तो यह है कि कुदेवों की आराधनारूप इस गृहीत मिथ्यात्व से अनादिकालीन अगृहीत मिथ्यात्व पुष्ट होता है; जिसके कारण यह जीव अनन्तकाल तक संसार में रुलता हुआ अनंत दुःख प्राप्त करता है और दूसरे इसप्रकार की प्रवृत्तियों से पाप बंध भी होता है।

इस पर भी वह कहता है कि मिथ्यात्वादि भाव तो अतत्त्वश्रद्धान

होने पर होते हैं और पापबंध बुरे कार्य करने से होता है; क्षेत्रपालादि के मानने से मिथ्यात्वभाव और पापबंध किसप्रकार होता है ?

इसके उत्तर में पण्डितजी कहते हैं कि पहली बात तो यह है कि परपदार्थों को इष्टानिष्ट मानना मिथ्या है, मिथ्यात्व है; क्योंकि अन्य पदार्थ किसी के शत्रु-मित्र हैं ही नहीं और कुदेवों को मानने से परपदार्थों में इष्टानिष्टबुद्धि पुष्ट होती है, वृद्धि को प्राप्त होती है, मिटती नहीं है।

दूसरी बात यह है कि कुदेवादिक आजतक किसी को भी धनादिक पदार्थ देते देखे नहीं गये और छीनते भी नहीं देखे गये; अत: इन्हें मानने-पूजने से कोई लाभ नहीं है; अपितु इनको मानना-पूजना अनर्थकारी ही है।

कुदेवादि के मानने-पूजनेरूप परिणाम तीव्र मिथ्यात्वादिरूप हैं; इसकारण इनके रहते हुए मुक्ति का मार्ग भी अत्यन्त दुर्लभ हो जाता है।

मानने शब्द का अर्थ पूजना भी होता है और अस्तित्व स्वीकार करना भी होता है। इसलिए हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि इस शब्द का अर्थ हम प्रकरणानुसार ही करें।

एक व्यक्ति ने मुझसे पूछा कि क्या आप व्यन्तरादिक देवों को मानते हैं ?

जब मैंने कहा ह्न ''हाँ, मानते हैं।'' तब वह एकदम नाराज होते हुए कहने लगा ह्न

''तुम, पण्डित होकर, तेरापंथी होकर, टोडरमल स्मारक में बैठकर व्यन्तरों को मानते हो ह्न ऐसा कहते हुए तुम्हें शर्म नहीं आती ?''

मैंने अत्यन्त धैर्य के साथ कहा ह्न ''क्या पण्डित टोडरमलजी व्यन्तरों को नहीं मानते थे, क्या वे तत्त्वार्थसूत्र को नहीं मानते थे ?

अरे भाई ! चार प्रकार के देवों में एक प्रकार के देव व्यन्तरदेव भी हैं। हम ऐसा मानते हैं कि देवों में एक व्यन्तरदेवों की भी जाति है, लोक में उनका भी अस्तित्व है। यह बात प्रत्येक जैनी को मानना चाहिए,

स्वीकार करना चाहिए; क्योंकि उनके अस्तित्व से इन्कार करना भी तो सत्य का अपलाप करना है।''

वस्तुत: बात यह है कि लोग मानने का अर्थ पूजना या पूजने के योग्य मानना ही समझते हैं। मानने का एक अर्थ पूजना भी हो सकता है; क्योंकि लोक में इसप्रकार के प्रयोग देखे जाते हैं; किन्तु **मानने का असली अर्थ तो उनके अस्तित्व को स्वीकार करना है।**

हम उन्हें पूजने योग्य नहीं मानते, उनकी पूजा करने को गृहीत मिथ्यात्व मानते हैं; पर लोक में उनके अस्तित्व से भी इन्कार नहीं करते।

इसीप्रकार का प्रश्न ज्योतिषशास्त्र के संबंध में किया जाता है कि आप ज्योतिष को मानते हैं? यदि हम कह दें कि मानते हैं तो फिर यही कहा जाने लगता है कि सब बकवास है।

अरे भाई ! कोई ज्योतिषी गलत हो सकता है, ठग हो सकता है; परन्तु ज्योतिष शास्त्र तो गलत नहीं है, ज्योतिष विद्या तो ठग विद्या नहीं है। यदि कुछ लोगों ने ज्योतिष के नाम पर ठगी का धंधा आरंभ कर दिया है, तो इसकारण ज्योतिष शास्त्र को तो ठग विद्या नहीं माना जा सकता। जब हम यह कहते हैं कि ज्योतिष भी है तो लोग समझते हैं कि हम उन ठगों का समर्थन कर रहे हैं, जो ज्योतिष के नाम पर लोगों को ठगते हैं।

अरे भाई ! हम ज्योतिषियों को नहीं, ज्योतिष विद्या को निमित्तज्ञान का अंग मानते हैं। इसीप्रकार **हम व्यंतरों का अस्तित्व तो स्वीकार करते हैं, पर उन्हें पूज्य नहीं मानते, उनकी पूजा नहीं करते।**

इसप्रकार हम देखते हैं कि पण्डित टोडरमलजी ने प्रत्येक वस्तुस्थिति को बड़े ही संतुलन के साथ प्रस्तुत किया है।

इस पर कुछ लोग कहते हैं कि वे दूसरों का भला-बुरा करते भी देखे जाते हैं; डराते-धमकाते तो हैं ही; आगे-पीछे की बातें भी बताते हैं।

इसके उत्तर में पण्डितजी कहते हैं कि वे भला-बुरा करने की बातें चाहे जितनी भी करें, पर वे किसी का भला-बुरा कर नहीं सकते; किन्तु

जो लोग उन्हें पूजते हैं, वे ह्न **बुरा न कर दें ह्न इस डर से और भला कर देंगे** ह्न इस लोभ से ही पूजते हैं या फिर उनसे हमें भविष्य की बातों का पता चल जावेगा ह्न इस आशा से पूजते हैं; परन्तु बात यह है कि मनुष्यों के समान **वे भी रागी-द्वेषी और कौतूहलप्रिय होने से कभी सत्य बोलते हैं तो कभी झूठ भी बोलते हैं। अत: उनके कथनों के आधार पर कोई निर्णय नहीं लिया जा सकता; क्योंकि किसी निर्णय पर पहुँचने के लिए सच्चाई की विश्वसनीयता होना अत्यन्त आवश्यक है। इसलिए उनका ज्ञान भी हमारे किसी काम का नहीं है।**

व्यन्तर देवों को अवधिज्ञान होता है। उसके माध्यम से वे द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की मर्यादा में बाह्य पौद्गलिक पदार्थों को प्रत्यक्ष जानते हैं। उनका यह अवधिज्ञान एक तो इसलिए निरर्थक है कि उसकी गति मात्र पौद्गलिक पदार्थों में है, आत्मा में नहीं और आत्मा का कल्याण तो आत्मा को जानने से होता है; पौद्गलिक पदार्थों को जानने से नहीं।

दूसरे उनके अवधिज्ञान की काल संबंधी मर्यादा भूतकाल की अपेक्षा भविष्यकाल की बहुत कम होती है। हमें भूतकाल को जानने में कोई रस नहीं है, हम तो भविष्य के बारे में जानना चाहते हैं; क्योंकि भूतकाल तो बीत चुका है और उसे तो बहुत कुछ हम भी जानते हैं।

व्यन्तर देव भूतकालीन बातें बता कर हमारा विश्वास प्राप्त कर लेते हैं; पर जब हम भविष्य की बात करते हैं तो....।

भविष्य की जिस बात को वे जानते नहीं है, उसके बारे में भी वे मान कषाय के कारण यह नहीं कह सकते कि हमें इस बात का पता नहीं है; अत: झूठ-सच कुछ भी बोल देते हैं। यह तो वे जानते ही हैं कि मैंने २० वर्ष आगे की बात बताई है; उसकी सच्चाई का पता तो बीस वर्ष बाद ही चलेगा। अत: कुछ भी चिन्ता करने की बात नहीं है।

इसतरह हम उनके उस अवधिज्ञान से भी कोई लाभ नहीं उठा सकते।

कुतूहलवश तो वे झूठ बोलते ही हैं, मानकषाय के वश होकर भी वे

कम झूठ नहीं बोलते। यह तो आप जानते ही हैं कि जब तक किसी बात की सच्चाई का भरोसा न हो, उससे लाभ लेना संभव नहीं है।

सदा सत्य बोलने वाले तो महान होते ही हैं; उनसे तो लाभ मिलता ही है, किन्तु जो लोग सदा ही गारंटी से झूठ बोलते हैं; कदाचित् उनसे भी लाभ उठाया जा सकता है; क्योंकि सुनिश्चितता होने से हम किसी निर्णय पर पहुँच सकते हैं; किन्तु जो कभी झूठ और कभी सत्य बोलता है, उससे लाभ प्राप्त करना संभव नहीं है। व्यंतरों की यही अप्रमाणिकता ह्न **हमें उनसे सदा दूर ही रहना चाहिए ह्न** इसके लिए प्रेरित करती है।

प्रश्न ह्न सदा झूठ बोलनेवालों से लाभ उठाने की बात स्पष्ट नहीं हुई। कृपया उदाहरण देकर स्पष्ट करें ?

उत्तर ह्न जब हम किसी व्यक्ति से बाजारभाव के संदर्भ में मंदी-तेजी के बारे में पूछते हैं; तब यदि वह हमें सदा सत्य ही बताता है, सही सलाह देता है, ऐसी स्थिति में उससे तो लाभ उठाया ही जा सकता है; परन्तु जब कोई व्यक्ति सदा उल्टा ही बताता है; मंदी हो तो तेजी बताता है, तेजी हो तो मंदी बताता है; तब भी हम उससे लाभ उठा सकते हैं; क्योंकि हम जानते हैं कि इसने मंदी की बात की है तो बाजार में अवश्य तेजी होगी; इसीप्रकार तेजी की बात है तो मंदी ही होगी। इसप्रकार हमें बाजार की सही स्थिति का ज्ञान हो जाता है और हम उसके आधार पर सही निर्णय ले सकते हैं; किन्तु जो व्यक्ति कभी सत्य, कभी झूठ बोलता है; उसके वचनों के आधार पर तो कोई भी निर्णय लेना खतरे से खाली नहीं है।

व्यन्तरदेवों की यही ह्न कभी सत्य और कभी झूठ बोलने की ह्न आदत हमें किसी भी निष्कर्ष पर पहुँचने में सहायक नहीं है, उपयोगी नहीं है।

अत: व्यन्तरदेवों की पूजा-भक्ति से न तो लौकिक लाभ है और न पारलौकिक; अपितु गृहीत मिथ्यात्व होने से हानि ही हानि है; अत: उनकी पूजा-भक्ति करना किसी भी दृष्टि से ठीक नहीं है। ●

नौवाँ प्रवचन

मोक्षमार्गप्रकाशक का **छठवाँ अधिकार** चल रहा है; जिसमें कुदेव, कुगुरु और कुधर्म के संदर्भ में विशेष निरूपण है। उक्त संदर्भ में व्यन्तरादि देवों की चर्चा चल रही है। उनकी प्रवृत्ति का उल्लेख करते हुए पण्डितजी कहते हैं कि कल्पित देवों के जो चमत्कारादि देखे जाते हैं; वे सभी व्यन्तरादि देवों द्वारा ही किये जाते हैं। पूर्व पर्याय में कोई व्यक्ति उनका सेवक था। वह मरकर व्यंतर हो गया, तब वह उनको मानने की प्रवृत्ति चलाने के लिए कुछ चमत्कार दिखाता है तो यह भोला जगत प्रभावित हो जाता है।

जिनप्रतिमादि के भी जो अतिशय देखने-सुनने में आते हैं; वे सभी भी जिनकृत नहीं हैं; उनमें श्रद्धा रखनेवाले व्यन्तरों के ही कार्य हैं।

व्यन्तरों की वृत्ति और प्रवृत्ति बालकों के समान कुतूहलप्रिय होती है। जिसप्रकार बालक कुतूहलवश कभी अपने को हीन दिखवाता है, कभी महान दिखवाता है, कभी चिढ़ाता है, कभी गाली सुनाता है, कभी ऊँचे स्वर से रोता है और रोते-रोते हँसने लग जाता है; उसीप्रकार की अनर्गल चेष्टायें व्यंतर भी करते हैं।

ये व्यन्तर अन्य जीवों के शरीरादि को उनके पुण्य-पापानुसार परिणमा सकते हैं। वस्तुत: उनके परिणमन में ये तो मात्र बाह्य निमित्त हैं, अंतरंग निमित्त तो उनके स्वयं के पुण्य-पाप का उदय है। कार्य तो उपादानगत योग्यता के अनुसार ही होता है।

यह सुनकर कोई कह सकता है कि यदि यह बात है तो उनके पूजने में क्या दोष है ?

उससे कहते हैं कि निमित्त तो अपनी बीमारी को दूर करने में वैद्य-डॉक्टर भी हैं, लौकिक अनुकूलता जुटाने में माँ-बाप भी होते हैं, शिक्षा ग्रहण करने में शिक्षक भी होते हैं और सेवा करने में नौकर-चाकर भी होते हैं; इसकारण हम उनका उचित आदर-सत्कार भी करते हैं; पर उन्हें

सच्चा देव मानकर उनकी सच्चे देव के समान ही अष्ट द्रव्य से पूजा-अर्चना तो नहीं करने लगते। इसीप्रकार व्यन्तरों की भी पूजा-अर्चना करना ठीक नहीं है। वे तो हमारे और आपके समान ही रागी-द्वेषी देवगति के देव हैं।

इसप्रकार हम देखते हैं कि मोक्षमार्गप्रकाशक के छठवें अधिकार में व्यन्तरदेवों के संदर्भ में विस्तार से चर्चा की गई है। जिन्हें उक्त संदर्भ में विशेष जानने का विकल्प हो; उन्हें मोक्षमार्गप्रकाशक के उक्त प्रकरण का गहराई से अध्ययन करना चाहिए।

इसप्रकार अबतक व्यंतरदेवों के बारे में विचार किया, अब क्षेत्रपाल-पद्मावती आदि के संदर्भ में बात करते हैं; क्योंकि दिगम्बर जैन समाज में इनके संदर्भ में भी बहुत भ्रान्ति है।

उक्त संदर्भ में पण्डितजी लिखते हैं कि यदि कोई प्रश्न करे कि क्षेत्रपाल, पद्मावती और यक्ष-यक्षिणी तो जैनधर्म के अनुयायी हैं; उनकी पूजनादि करने में तो कोई दोष नहीं है ?

उक्त प्रश्न का उत्तर देते हुए पण्डितजी कहते हैं कि जिनमत में तो संयम धारण करने से पूज्यपना होता है और देवगति के देवों में संयम नहीं होता। तथा जो लोग इनको सम्यक्त्वी मानकर पूजते हैं; उनसे कहते हैं कि भवनवासी, व्यंतर और ज्योतिषियों में सम्यक्त्व की मुख्यता नहीं है।

यदि सम्यक्त्व से ही पूजना है तो लौकान्तिक देवों अथवा सर्वार्थसिद्धि के देवों को क्यों नहीं पूजते ?

इस पर यदि कोई कहे कि इनके भक्ति विशेष है तो कहते हैं कि भक्ति की विशेषता तो सौधर्म इन्द्र में इनसे भी अधिक है और वे नियम से सम्यग्दृष्टि भी हैं; उन्हें छोड़कर इन्हें क्यों पूजते हो ?

इस पर भी यदि कोई यह कहे कि जिसप्रकार राजा के प्रतिहारादिक (द्वारपालादि) हैं तथा प्रतिहारादिक के मिलाने पर राजा से मिलना होता है; उसीप्रकार ये क्षेत्रपालादि तीर्थंकर के प्रतिहारादिक हैं और इनके सहयोग से उनसे मिलना सहज हो जायेगा। अत: इनके पूजने में लाभ ही है।

उक्त प्रश्न का उत्तर देते हुए पण्डितजी कहते हैं कि तीर्थंकरों के समवशरण में क्षेत्रपालादिक का कोई स्थान नहीं है, अधिकार नहीं है। तीर्थंकरों के दर्शन करने के लिए इनके सहयोग की रंचमात्र भी आवश्यकता नहीं है। तीर्थंकर भगवान का समवशरण तो खुला दरबार है। जिनको श्रद्धा है, उनके प्रति भक्ति का भाव है, दिव्यध्वनि सुनने का उत्कृष्टतम भाव है; वे सभी सहजभाव से दौड़े-दौड़े चले जाते हैं; बिना किसी रोक-टोक के दर्शन करते हैं, भक्ति करते हैं और दिव्यध्वनि का श्रवण कर आनन्दित होते हैं।

इसलिए क्षेत्रपालादि की पूजन देवपूजन तो है ही नहीं; अपितु गृहीत मिथ्यात्व है, मनुष्य भव की नई कमाई है; जो इसके अनंत संसार का कारण बनेगी।

पद्मावती के संदर्भ में जो प्रसंग बना था; वह इसप्रकार है ह्न

अग्नि में जलते हुए नाग-नागिनी की रक्षा तीर्थंकर पार्श्वकुमार ने गृहस्थावस्था में की थी; उन्हें संबोधित भी किया था। फलस्वरूप वे धरणेन्द्र और पद्मावती के रूप में भवनवासी देव-देवी हो गये।

जब मुनि अवस्था में तीर्थंकर पार्श्वनाथ मुनिराज पर पूर्व भव के बैरी कमठ के जीव ने उपसर्ग किया; उन पर पत्थर बरसाये और भी अनेकप्रकार के उपद्रव किये; तब उन धरणेन्द्र-पद्मावती नामक देव-देवी को उक्त उपसर्ग को दूर करने का तीव्रतम विकल्प आया और उन्होंने जो कुछ संभव था; वह करने का भरपूर प्रयास किया।

उपसर्ग और रक्षा के प्रयास के बीच में आत्मनिमग्न पार्श्वनाथ मुनिराज को केवलज्ञान प्राप्त हो गया; वे अरहंत बन गये और उपसर्ग समाप्त हो गया; क्योंकि अरहंत अवस्था में उपसर्ग नहीं होता।

बात, बस इतनी ही है; पर उसने आज ऐसा रूप धारण कर लिया है

कि स्थान-स्थान पर पद्मावती की मूर्तियाँ विराजमान होकर अष्ट द्रव्य से पूजी जाने लगी हैं।

हम यह नहीं कहना चाहते हैं कि हम उनका निरादर करें; क्योंकि निरादर तो किसी का भी नहीं करना चाहिए, शत्रु का भी नहीं; फिर वे तो भगवान पार्श्वनाथ के भक्त होने से हमारे साधर्मी भाई-बहिन हैं। अत: उनके साथ उनकी भूमिकानुसार साधर्मी वात्सल्य तो होना ही चाहिए।

दिगम्बर जैन समाज में एक बहुत बड़ा वर्ग ऐसा है; जो उनकी पूजा-भक्ति करता है। अत: उनके साथ किया गया असद्व्यवहार विग्रह का कारण बन सकता है; जो सामाजिक शान्ति की दृष्टि से भी ठीक नहीं है।

अच्छा तो यही है कि जहाँ जो परम्परा चल रही है, उसमें कोई छेड़छाड़ न की जावे।

यद्यपि यह सबकुछ ठीक है, पर प्रत्येक व्यक्ति का वस्तु के सत्य-स्वरूप का निर्णय करना न केवल जन्मसिद्ध अधिकार है; अपितु आत्म-कल्याण और परमसत्य की प्राप्ति के लिए अत्यन्त आवश्यक भी है।

यदि कोई हमारे किसी पूज्य पुरुष की, माता-पिता की, भाई-बहिन की किसी आततायी से रक्षा करने का प्रयास करता है तो हम उसके साथ बहुत अच्छा व्यवहार करते हैं और करना भी चाहिए; परन्तु पंचपरमेष्ठियों के समान उसकी पूजा तो नहीं करने लगते। ठीक इसीप्रकार **धरणेन्द्र-पद्मावती के साथ वात्सल्यभाव का व्यवहार तो उचित माना जा सकता है; किन्तु उनकी पूजा-अर्चना को तो किसी भी रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता है; क्योंकि अष्टद्रव्य से तो एकमात्र सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के धारी सकल संयमी पंचपरमेष्ठी ही पूज्य हैं।**

उपसर्ग दूर करने में तो धरणेन्द्र-पद्मावती ह्न दोनों ही साथ थे। ऐसे कार्यों में तो पति की ही प्रधानता रहती है, पत्नी तो उसका साथ देती है। इस परम्परा के अनुसार इस उपसर्ग के दूर करने के प्रयास में भी धरणेन्द्र को ही मुख्य होना चाहिए; किन्तु मूर्तियाँ धरणेन्द्र की नहीं, पद्मावती की

ही देखने में आती हैं; पूजा पाठ भी उनका ही विशेष होता है। एकाध स्थान पर धरणेन्द्र की मूर्ति हो सकती है; पर पद्मावती तो....।

उक्त मनोवृत्ति का कारण कुछ समझ में नहीं आता। सभी तीर्थंकर पुरुष होने से पुरुषों की मूर्तियाँ तो सर्वत्र हैं ही; पर महिलाओं की मूर्तियाँ देखने में नहीं आतीं। हो सकता है कि महिलाओं को प्रतिनिधित्व देने की भावना से यह सबकुछ हुआ हो; पर सोचने की बात यह है कि देवगति की महिला को क्यों चुना गया, वह भी भवनवासी ?

यह तो आप जानते ही हैं कि सम्यग्दृष्टि जीव मर कर न तो महिला की पर्याय में जाते हैं और न भवनवासी, व्यंतर और ज्योतिषी देवों में पैदा होते हैं। ऐसी स्थिति में उनका जन्म से सम्यग्दृष्टि होना संभव नहीं है।

हो सकता है, उन्हें जन्म के बाद सम्यग्दर्शन हो गया हो; पर संयम होने का तो प्रश्न ही खड़ा नहीं होता; क्योंकि देवगति में तो संयम होता ही नहीं है। यदि सम्यग्दर्शन से ही पूजना है तो फिर जिनके सम्यग्दर्शन की गारंटी है, जो एक भवावतारी हैं; ऐसे लाखों अहमिन्द्र, इन्द्र और लौकान्तिक आदि देव हैं; उन्हें छोड़कर एक भवनवासी देवी को पूजना सहजभाव से गले नहीं उतरता।

तीर्थंकर जन्म से ही अतुल्यबल के धारी होते हैं, वज्रवृषभनाराच संहनन के धारी होते हैं। तात्पर्य यह है कि उनका शरीर इतना मजबूत होता है कि वज्र का प्रहार भी उनका कुछ बिगाड़ नहीं कर सकता। तीर्थंकर नेमिनाथ के पैर को नारायण भी नहीं हिला सके थे। अरे, भाई! उनकी कोई उंगली भी नहीं मोड़ सकता। साधारण से देव के उपसर्ग से तीर्थंकर पार्श्वनाथ का क्या होनेवाला था, वे तो अपने में पूर्ण सुरक्षित थे।

यदि वे पैर की उंगली भी दबा देते तो कमठ का मद चूर हो जाता। पर वे तो अपने में मगन थे, आत्मध्यान में लवलीन थे, क्षपक श्रेणी में आरोहण कर रहे थे। यदि ऐसा नहीं होता तो उन्हें अन्तर्मुहूर्त में ही केवलज्ञान कैसे हो जाता ?

यद्यपि यह सत्य है कि कमठ के जीव ने उन पर उपसर्ग किया था और धरणेन्द्र-पद्मावती को उपसर्ग दूर करने का भाव आया था; तथापि यह ठीक नहीं है कि उक्त उपसर्ग से उन पर कोई बड़ा संकट आ गया था और यदि धरणेन्द्र-पद्मावती न आते तो न मालूम क्या हो जाता ? क्योंकि वे तो अपने में पूर्ण सुरक्षित थे ही; उन्हें अपनी सुरक्षा के लिए अन्य के सहयोग की रंचमात्र भी आवश्यकता नहीं थी।

शास्त्रों में आता है कि ह्न

कमठे धरणेन्द्रे च सोचितं कर्म कुर्वती।
प्रभु तुल्य: मनोवृत्ति: पार्श्वनाथ: नमोस्तु ते ।।

कमठ ने अपनी कषाय के अनुसार उपसर्ग और धरणेन्द्र ने अपने भक्तिभाव के अनुसार उसके निवारण के प्रयास किये। यह कार्य उनके राग-द्वेषानुसार उचित ही थे; क्योंकि द्वेषवालों को उपसर्ग और रागवालों को उसके निवारण का भाव आना उचित ही है। किन्तु वीतराग धर्म की आराधना करनेवाले पार्श्वनाथ मुनिराज के चित्त में दोनों के प्रति समान भाव था, समता भाव था; न तो उन्हें कमठ से द्वेष था और न धरणेन्द्र से राग; वे तो पूर्ण वीतरागता की ओर तेजी से बढ़ रहे थे।

यही कारण है कि हम सब पार्श्वनाथ को नमस्कार करते हैं। यदि वे कमठ से द्वेष और धरणेन्द्र से राग करते तो फिर हममें और उनमें अन्तर ही क्या रहता, फिर हम उन्हें पूजते भी क्यों ?

इस छन्द में कमठ और धरणेन्द्र की चर्चा तो है; पर पद्मावती के नाम का उल्लेख नहीं है। इससे भी यही प्रतीत होता है कि उपसर्ग निवारण में धरणेन्द्र ही प्रमुख थे। फिर भी न मालूम क्यों उनकी उपेक्षा हुई ? यह प्रश्न चित्त को आन्दोलित करता ही है।

जब लोग ऐसा बोलते हैं कि यदि धरणेन्द्र-पद्मावती समय पर नहीं पहुँचते तो न मालूम क्या हो जाता ? तब मुझे बड़ा अटपटा लगता है।

अरे, भाई ! यदि धरणेन्द्र-पद्मावती नहीं पहुँच पाते तो क्या होता का

प्रश्न ही कहाँ खड़ा होता है; क्योंकि वही होता; जो होना था, हुआ था। उन्हें केवलज्ञान होने का समय आ गया था, वे उसे प्राप्त करने के अभूतपूर्व पुरुषार्थ में संलग्न थे, पाँचों ही समवाय केवलज्ञान होने के थे सो केवलज्ञान हो गया। यह उपसर्ग तो उसमें निमित्त भी नहीं था; क्योंकि उसमें अंतरंग निमित्त तो चार घातियों का क्षय था, अभाव था।

यह बात तो ऐसी लगती है कि जैसे एक भारतकेसरी नामी पहलवान बाजार में जा रहा था कि सामने से एक आठ वर्ष का बालक आया और उस बालक ने उस पहलवान की पिटाई आरंभ कर दी; इतने में एक दस वर्ष का बालक आया और उसने उसे बचा लिया। यदि दस वर्ष का बालक नहीं आता और बचाता भी नहीं तो न मालूम आज क्या हो जाता ?

जब मैं ऐसा कह रहा था तो एक भाई बोले ह्न

अरे, भाई ! आपको झूठ बोलना भी ढंग से नहीं आता। इतना बड़ा सफेद झूठ। क्या आठ वर्ष का बालक किसी भारतकेसरी पहलवान को मार सकता है, बाल हठ के कारण कुछ हाथ-पैर चलाये भी तो क्या बिगड़ता है इतने बड़े पहलवान का ?

आठ वर्ष का बालक मार रहा था और दस वर्ष के बालक ने बचा लिया, अन्यथा न मालूम क्या हो जाता ? ह्न यह बात जिसप्रकार विश्वसनीय नहीं लगती; उसीप्रकार कमठ का जीव मार रहा था और धरणेन्द्र-पद्मावती ने बचा लिया, अन्यथा न जाने क्या हो जाता ह्न यह बात भी हृदय में आसानी से नहीं उतरती।

मैं आपसे ही पूछता हूँ ह्न क्या हो जाता ? क्या उस पहलवान के हाथ-पैर टूट जाते, उसे अस्पताल जाना पड़ता, क्या उसकी मृत्यु भी हो सकती थी ?

अरे, भाई ! कुछ नहीं होता। उस पहलवान का तो कुछ नहीं होता, पर उस बालक के हाथ में दर्द अवश्य हो जाता, हाथ में मोच भी आ सकती थी। हो सकता है कि उस बालक को अस्पताल ले जाना पड़ता।

अरे, भाई ! पहलवान की तो व्यायाम भी नहीं हो पाती; क्योंकि वह तो प्रतिदिन अपने बराबरी के पहलवान से अभ्यास करता है, उसके प्रबल प्रहार करनेवाले मुक्के खाता है। बालक के आक्रमण से उसका कुछ भी बिगड़नेवाला नहीं था, वह तो अपने आप में सुरक्षित ही था। उसे बचाने वाले दस वर्ष के बालक के सहयोग की रंचमात्र भी आवश्यकता नहीं थी।

इसीप्रकार क्या कमठ के उपसर्ग से पार्श्वनाथ क्षत-विक्षत हो जाते, उन्हें कोई बहुत बड़ी हानि उठानी पड़ती ?

नहीं, नहीं; ऐसा कुछ भी नहीं होता। अतुल्य बल और वज्रवृषभ-नाराचसंहननवाले पार्श्वनाथ मुनिराज को तो कुछ नहीं होता; पर कमठ को तीव्रतम पापबंध अवश्य होता, हुआ भी होगा और उसका फल उसे आगे चलकर भोगना ही होगा।

कमठ के आक्रमण से पार्श्वनाथ मुनिराज का कुछ भी बिगड़नेवाला नहीं था, वे तो अपने आप में सुरक्षित ही थे। उन्हें धरणेन्द्र-पद्मावती के सहयोग की भी रंचमात्र आवश्यकता नहीं थी।

ऐसा भी हो सकता है कि वह अबोध बालक, उसी पहलवान का पुत्र हो और किसी बात पर बिगड़ कर उत्तेजना में उसने अपने पहलवान पिता पर हाथ उठा दिया हो और उसके ही बड़े भाई ने उसके अविनयपूर्ण व्यवहार से उसे रोक दिया हो; पर यह पहलवान पिता को तो एक कौतूहल ही है।

वह दस वर्ष का बालक यह अच्छी तरह जानता होगा कि आठ वर्ष के बालक के आक्रमण से उसके पहलवान पिता का कुछ भी बिगड़नेवाला नहीं है, अपितु बालक को चोट अवश्य लग सकती है; अत: हम यह भी कह सकते हैं कि उसने अपने पिता को नहीं बचाया था, अपितु अपने छोटे भाई को पिता की अविनय करनेरूप दुष्कर्म से बचाया था, उसे स्वयं को लगनेवाली चोट से बचाया था; इसप्रकार उसने पिता का नहीं, भाई का उपकार किया था।

वह पहलवान पिता न तो मारनेवाले बालक से नाराज ही होता और न बचानेवाले बालक से प्रसन्न; उसका दोनों के प्रति समभाव ही रहता है, वह तो दोनों को पुचकारता ही है, समझाता ही है।

इसीप्रकार अन्तरोन्मुखी मुनिराज पार्श्वनाथ पर हुए उपसर्ग की घटना भी एक कौतूहल से अधिक कुछ नहीं है। वे पार्श्वनाथ मुनिराज न तो कमठ से नाराज हुए और न धरणेन्द्र-पद्मावती से प्रसन्न। दोनों के प्रति समानभाव ही उनका समताभाव था, जिसके बल पर वे आगे बढते गये और अतीन्द्रियानन्द प्राप्त कर पूर्ण वीतरागी-सर्वज्ञ बन गये।

मुनिराज पार्श्वनाथ पर कोई बड़ा संकट नहीं था ह्न यह बात धरणेन्द्र-पद्मावती भी अच्छी तरह जानते होंगे; क्योंकि आखिर वे मुनिराज पार्श्वनाथ के भक्त थे। इसलिए हम कह सकते हैं कि उन्होंने मुनिराज पार्श्वनाथ की रक्षा नहीं की थी, अपितु उस कमठ के जीव को ही महान पाप करने से विरत किया था। वस्तुत: बात यह है कि उन्होंने उपकार मुनिराज पार्श्वनाथ का नहीं, कमठ के जीव का किया है। उन्हें कमठ पर करुणा आई और उन्होंने उसे नरक, निगोद ले जानेवाले महान पाप से बचा लिया।

सोचने का यह भी एक दृष्टिकोण हो सकता है। जो भी हो, पर यह सुनिश्चित है कि छठवें गुणस्थान के नीचे के जीवों की अष्टद्रव्य से पूजन करने को यहाँ गृहीत मिथ्यात्व कहा गया है और तत्संबंधी मान्यता को कुदेव संबंधी मान्यता माना गया है।

वस्तुत: स्थिति तो यह है कि आप किसी को भी अपने सुख-दु:ख और जीवन-मरण का कर्ता-धर्ता मानकर पूजोगे तो वह कुदेव संबंधी गृहीत मिथ्यात्व होगा; क्योंकि प्रत्येक जीव के सुख-दु:ख, जीवन-मरण आदि स्वयं की तत्समय की योग्यता और स्वयं के पुण्य-पाप के उदयानुसार होते हैं। **यदि हमारे पाप का उदय है और हमारा बुरा होना है तो दुनियाँ की कोई भी शक्ति बचा नहीं सकती। इसीप्रकार हमारी होनहार अच्छी है और तदनुसार पुण्य का उदय भी है तो दुनिया की कोई भी शक्ति हमारा बुरा नहीं कर सकती।**

यदि हम इस परम सत्य से परिचित हैं तो फिर हमें किसी भी प्रकार के भय, स्नेह, आशा और लोभ से किसी रागी-द्वेषी देवी-देवता की आराधना करने की आवश्यकता नहीं है ह्न इस सम्पूर्ण प्रकरण का यही संदेश है।

यहाँ पर प्रश्न किया जा सकता है कि जब कोई किसी का कुछ कर ही नहीं सकता; यहाँ तक कि अरहंत भगवान भी किसी का भला-बुरा नहीं करते। यदि यही बात परमसत्य है तो फिर हम उनकी भक्ति क्यों करें?

अरे, भाई ! भक्ति तो पंचपरमेष्ठी के गुणों में होनेवाले अनुराग को कहते हैं। कहा भी है ह्न '**गुणेषु अनुराग: भक्ति:** ह्न गुणों में होनेवाले अनुराग को भक्ति कहते हैं।'

यदि किसी व्यक्ति में हम से अधिक गुण हैं तो उस व्यक्ति के प्रति हमारे हृदय में सहज ही अनुराग उत्पन्न होता। उक्त अनुराग को ही लोक में भक्ति कहते हैं। यदि वही अनुराग पंचपरमेष्ठी के गुणों के आधार पर उनमें हो तो, उसे जिनधर्म में भक्ति कहा जाता है। सच्ची भक्ति मात्र गुणों के आधार पर होती है; उसमें किसी भी प्रकार का स्वार्थ नहीं होता, नहीं होना चाहिए।

एक व्यक्ति क्रिकेट खेलना सीखना चाहता है। इसके लिए उसने एक कोच भी लगाया है, जो उसे प्रतिदिन जेठ की दोपहरी में घंटों अभ्यास कराता है, उसके साथ दौड़ता है, भागता है; पसीने से लथपथ हो जाता है; पर उसने अपने घर में जो चित्र लगाये हैं, उनमें उसका चित्र नहीं है; उसमें तो कपिलदेव का चित्र है, सचिन तेन्दुलकर का चित्र है।

यद्यपि वह अपने कोच की भी विनय रखता है, उनका सम्मान करता है; उन्हें उचित पारिश्रमिक भी देता है; तथापि यह सब उनके द्वारा किये सहयोग के कारण होता है; अत: विनय तो है, पर भक्ति नहीं।

यद्यपि यह परम सत्य है कि उक्त संदर्भ में उसे कपिलदेव या सचिन तेन्दुलकर से कोई सहयोग प्राप्त नहीं है, वे लोग उसके पत्र का भी उत्तर

नहीं देते, मिलने का तो सवाल पैदा ही नहीं होता, उनके पास जाने की कोशिश भी करे तो भी पुलिस के डंडे खाने पड़ते हैं, फिर भी घर में चित्र उनके ही लगाये हैं; क्योंकि यह उन जैसा क्रिकेटर बनना चाहता है, अपने कोच जैसा नहीं, जिसका नंबर जिले की टीम में भी नहीं आ पाया।

वे लोग उसके आदर्श हैं, वह उन जैसा बनना चाहता है; अत: उनके प्रति उसके हृदय में सहज ही भक्तिभाव उमड़ता है। जब वे जीतते हैं, तेजी से रन बनाते हैं तो यह उछल पड़ता है; जब वे हारते हैं तो यह उदास हो जाता है। यह सब एकदम निस्वार्थभाव से होता है।

इसीप्रकार जो हमें वस्तुस्वरूप समझाते हैं, पढ़ाते हैं, सिखाते हैं, हमारा सभी प्रकार से पूरा सहयोग करते हैं; हम उन गृहस्थ ज्ञानियों का भी आदर करते हैं, विनय रखते हैं; रखना भी चाहिए; तथापि **हमारे आदर्श तो अरहंत-सिद्ध भगवान ही हैं; पंचपरमेष्ठी ही हैं; हम उन जैसा ही बनना चाहते हैं; इसलिए उनके प्रति हमारे हृदय में सहज ही भक्तिभाव उमड़ता है, उमड़ना भी चाहिए; यही कारण है कि हम उनके मंदिर बनवाते हैं, उनकी प्रतिमायें विराजमान करते हैं, उनकी पूजा-अर्चना करते हैं; वह सबकुछ करते हैं, जो एक सच्चे भक्त को करना चाहिए।**

उनसे हमें कुछ मिलेगा ह्न इस भावना से की गई भक्ति तो व्यापार है, धंधा है; उसमें तो स्वार्थ की दुर्गंध आती है। उनसे कुछ मांगना तो भिखारीपन है। **जिनेन्द्र भगवान के भक्त भिखारी नहीं होते।**

यद्यपि यह सत्य है कि हमें जो कुछ भी मिलता है, अनुकूल-प्रतिकूल संयोग मिलते हैं; वे सब हमारे पुण्य-पापानुसार अपनी पर्यायगत योग्यता से ही प्राप्त होते हैं; तथापि हम जो भगवान से माँगते हैं, वह भी तो हमारे पुण्य-पापानुसार ही मिलेगा। अत: हम यही तो कहते हैं कि यदि हमारे कोई पुण्य शेष हों तो उसके फल में हमें अमुक संयोग प्राप्त हों ह्न **इसमें तो कोई बुरी बात नहीं होना चाहिए। फिर आप हमें ऐसा करने से क्यों रोकते हैं?**

अरे, भाई ! आप यह भी तो सोचिये कि यदि बुरी बात नहीं होती तो

फिर हम क्यों रोकते ? अरे, भाई ! यह निदान नामक आर्तध्यान है, जिसका फल शास्त्रों में तिर्यंचगति की प्राप्ति होना बताया गया है।

यह तो आप जानते ही हैं कि तिर्यंचगति में निगोद भी शामिल है।

हमारी भक्ति तो निष्काम भाव से होना चाहिए। जिसप्रकार वह क्रिकेट सीखने का अभिलाषी बिना किसी आकांक्षा से मात्र भक्तिभाव से ही कपिलदेव और तेन्दुलकर का प्रशंसक है; उसीप्रकार हमें भी भगवान से बिना कुछ माँगे उनकी भक्ति का भाव आना चाहिए।

जिन लोगों को यह चिन्ता है कि यदि हम ऐसा कहेंगे कि भगवान किसी से कुछ लेते नहीं है और किसी को कुछ देते भी नहीं हैं तो फिर कौन करेगा भगवान की भक्ति, कौन देगा दान, कौन बनवायेगा मंदिर ह्न ये सभी धर्म काम चलेंगे कैसे ?

यदि हम चाहते हैं कि ये सभी कार्य चलते रहें तो हमें यह कहना ही होगा कि यदि तुम भगवान की पूजा-भक्ति करोगे, उनका मंदिर बनवाओगे तो तुम्हें धन की, सम्पत्ति की प्राप्ति होगी, स्त्री-पुत्रादि की अनुकूलता प्राप्त होगी। यदि हमने ऐसा नहीं किया तो सबकुछ चौपट हो जावेगा। अत: हमारा तो यही कहना है कि वस्तुस्थिति चाहे जो कुछ भी हो; कृपया उसे पोथियों में ही रहने दीजिए, अकेले में बैठकर आप पण्डित लोग ही समझते रहिये; समाज को तो यही समझाइये कि....... ।

ऐसे लोगों से मैं कहना चाहता हूँ कि **हमें समाज चलाना है या आत्मकल्याण करना है; हमें समाज के समक्ष वस्तु के सत्यस्वरूप को प्रस्तुत करना है या धर्म के नाम पर उनसे चन्दा वसूल करना है, उन्हें क्रियाकाण्ड के बाह्य आडम्बर में उलझाये रखना है। अरे, भाई ! अब वस्तु का सच्चा स्वरूप हमारी समझ में आ गया है, हमारे ध्यान में आ गया है; अत: अब हमसे तो ऐसा अनर्थ होगा नहीं।**

जब लोग वस्तु का सही स्वरूप समझेंगे तो उनके हृदय में भी; उक्त सत्य स्वरूप ह्न जिनकी दिव्यध्वनि में आया है, जिन गुरुओं ने उसे लिपिबद्ध किया है, जिन शास्त्रों में वह लिखा है; उन सबके प्रति अगाधभक्ति का

भाव सहज ही उत्पन्न होगा, उन जैसा बनने का भाव भी जाग्रत होगा; न केवल भाव उत्पन्न होगा, अपितु उसके प्रचार-प्रसार के लिए साधन जुटाने का भी तीव्र विकल्प होगा; परिणामस्वरूप जिनमंदिर बनेंगे, स्वाध्याय भवन बनेंगे, शास्त्र छपेंगे, घर-घर पहुँचाये जावेंगे, पूजा-पाठ होगा; वह सबकुछ होगा जो जिनधर्म की प्रभावना के लिए आवश्यक है। कहीं कोई कमी रहनेवाली नहीं है।

इस बात की चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है कि यदि हम भगवान को कर्ता-धर्ता नहीं बतायेंगे तो सबकुछ बर्बाद हो जायेगा।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी ने उदाहरण प्रस्तुत कर इस बात को सिद्ध कर दिया है कि वस्तु के सत्यस्वरूप को प्रस्तुत करने से जिनमंदिरों को कोई खतरा नहीं है; क्योंकि निरन्तर अध्यात्मधारा बहने पर भी उनके यहाँ जितना दान दिया जाता है, जैसी पूजा भक्ति होती है, जितने जिनमंदिर और स्वाध्याय भवन बने हैं, जितने शास्त्र छपे हैं और घर-घर पहुँचे हैं; उनकी तुलना में अन्यत्र जो कुछ भी हुआ है, वह नगण्य ही है, न के बराबर ही है।

इस पर कुछ लोग कहते हैं कि भले ही भगवान कुछ लेते-देते न हों, पर उनकी पूजा-भक्ति से जो पुण्यबंध होता है; उसके फल में अनुकूलता तो मिलती ही है।

हाँ, यह बात सत्य है कि भगवान की पूजा-भक्ति से पुण्य का बंध होता है और उसके फल में लौकिक अनुकूलता भी प्राप्त होती है; **पर कुछ माँगने से, वह पुण्य बढ़ता नहीं, अपितु कुछ कम हो जाता है, क्षीण हो जाता है; सातिशय पुण्य का बंध तो जैनदर्शन में ज्ञानी जीवों को निष्कामभाव से होनेवाली भक्ति से ही होता है।**

पण्डितजी कहते हैं कि कुदेवादिक के सेवन से जीव का बिगाड़ दो प्रकार से होता है। **एक तो मिथ्यात्वादि दृढ़ होने से मोक्षमार्ग दुर्लभ हो जाता है और दूसरे पाप का बंध होने से लौकिक प्रतिकूलतायें भी बनी**

रहती हैं। इसमें सबसे अधिक नुकसानदेह तो मिथ्यात्व का पुष्ट होना ही है; क्योंकि मिथ्यात्व अनंत संसार का कारण है।

जब बेटा व्यापार करने मुम्बई गया था, तब हमने उसे पूँजी के लिए पाँच लाख रुपये दिये थे। यदि वह पाँच वर्ष में पाँच के पच्चीस करके लावे, तब तो कहना ही क्या है; किन्तु यदि वह पाँच लाख ही वापिस लेकर आ जावे तो हम कहते हैं कि कोई बात नहीं, लाभ नहीं कमाया तो नुकसान भी तो नहीं किया, पूँजी तो सुरक्षित रखी और पाँच वर्ष का खर्च भी तो चलाया; पर हम यह भूल जाते हैं कि इस बीच उसने भरी जवानी के पाँच वर्ष गमा दिये हैं, उसकी किसी को कोई कीमत ही नहीं है।

यदि रुपये गमाता है तो हम मानते कि कुछ गमाता है; पर जिस मनुष्य भव के एक समय का मूल्य अनंत चक्रवर्तियों की सम्पदा से भी अधिक मूल्यवान है; उस मनुष्य भव के अमूल्य पाँच वर्ष यों ही गमा दिये तो भी ऐसा नहीं लगता कि कुछ गमाया है।

देखो तो इस जीव की नादानी कि करोड़ों की एक-एक घड़ी चली जा रही है और यह विषय-कषाय में उलझ कर रह गया है।

यह मनुष्य भव इतना मूल्यवान है कि यदि हम इसका उपयोग आत्मानुभव करने में करें, अपने ज्ञान-दर्शन उपयोग को क्षण भर के लिए अपने में लगा देवें तो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति हो जावे और लगातार अन्तर्मुहूर्त तक आत्मा में ही लगाये रखें तो केवलज्ञान की प्राप्ति हो जाये। ह्न ऐसे इस मनुष्य भव के पाँच वर्ष यों ही गमा दिये।

पण्डितजी कहते हैं कि सबसे बड़ा बिगाड़ तो यही है कि जिस मनुष्य भव में आत्मकल्याण किया जा सकता था; उसे यों ही गृहीत मिथ्यात्व के सेवन और विषय-कषायों के भोगने में लगा दिया। यह कोई समझदारी का काम नहीं है।

इसप्रकार यहाँ कुदेवों की चर्चा समाप्त होती है। •

दसवाँ प्रवचन

मोक्षमार्गप्रकाशक का **छठवाँ अधिकार** चल रहा है। इस अधिकार में कुदेव, कुगुरु और कुधर्म की चर्चा की गयी है। अब तक अपन कुदेव के बारे में चर्चा कर चुके हैं और अब कुगुरुओं के संबंध में चर्चा करना है।

यद्यपि उक्त चर्चा आज के जमाने में खतरे से खाली नहीं है; तथापि उससे बचना भी तो संभव नहीं है; क्योंकि कुदेव, कुगुरु और कुधर्म का स्वरूप समझे बिना गृहीत मिथ्यात्व नहीं छूटता और सच्चे देव, गुरु और धर्म का स्वरूप समझे बिना सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं होती।

यदि हमें मुक्तिमहल की पहली सीढ़ी सम्यग्दर्शन पर कदम रखना है, सम्यग्दर्शन प्राप्त करना है तो हमें कुदेव, कुगुरु और कुधर्म तथा सच्चे देव, गुरु व धर्म का स्वरूप समझना ही होगा। यदि यह बात नहीं होती तो न तो पण्डितजी इनकी चर्चा करते और न हम ही इस प्रसंग में कुछ कहते; किन्तु इनका सही स्वरूप समझे बिना कल्याण का मार्ग खुलता नहीं है; अत: इनका प्रतिपादन अत्यन्त आवश्यक है।

यद्यपि हम चर्चा आरंभ कर रहे हैं; तथापि किसी के चित्त में विक्षोभ पैदा न हो ह्न इस बात का ध्यान रखेंगे। यह बात भी सत्य है कि हम चाहे जितनी सावधानी रखें; तो भी जो वस्तुस्थिति है; उसे तो स्पष्ट करना ही होगा। उसके बिना तो उनका स्वरूप ही स्पष्ट नहीं होगा।

कुगुरु का स्वरूप स्पष्ट करते हुए पण्डित टोडरमलजी लिखते हैं कि जो जीव विषय-कषायादि अधर्मरूप परिणमित होते हैं, मानादिक कषायों के कारण स्वयं को धर्मात्मा मानते हैं, धर्मात्माओं के योग्य नमस्कारादि क्रियायें कराते हैं तथा किसी एक अंग को किंचित् धारण करके बड़ा धर्मात्मा कहलाते हैं, बड़े धर्मात्माओं के योग्य क्रियायें कराते हैं ह्न इसप्रकार धर्म के आधार पर अपने को बड़ा मनवाते हैं; उन सभी को कुगुरु जानना चाहिए; क्योंकि धर्मपद्धति में तो मिथ्यात्व और विषय-कषायादि के

छूटने पर सम्यग्दर्शन सहित जिस भूमिका के योग्य आचरण धारण करे, पद भी तदनुसार ही होता है।

कुगुरु के उक्त स्वरूप के संदर्भ में उल्लेखनीय बात यह है कि इसमें किसी व्यक्ति या धर्म या दर्शन का उल्लेख न करके वृत्ति और प्रवृत्तियों के माध्यम से कुगुरुओं का स्वरूप स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

मुख्य बल इस बात पर है कि गुरुता न होने पर भी लोग स्वयं को गुरु के रूप में स्थापित करना चाहते हैं, धर्मगुरुओं को सहजभाव से प्राप्त होनेवाले सम्मान को प्राप्त करना चाहते हैं; एतदर्थ अनेक प्रकार के आडम्बर करते हैं, वेषादि धारण करते हैं।

ये बातें ऐसी हैं कि जो किसी शास्त्र में देखकर नहीं लिखीं जा सकती; जगत में उस समय जिसप्रकार की प्रवृत्तियाँ चल रही थीं; उनका बारीकी से निरीक्षण करके ही पण्डितजी ने इस विषय को प्रस्तुत किया है।

वे लिखते हैं कि कुछ लोग कुल की अपेक्षा अपना गुरुपना स्थापित करते हैं। वे कहते हैं कि हमारा कुल ऊँचा है, इसलिए हम सबके गुरु हैं।

इस पर पण्डितजी यह कहना चाहते हैं कि यदि कोई उच्च कुलवाला हीन आचरण करे तो उसे गुरु कैसे माना जा सकता है ? किसी कुल में पैदा होने मात्र से क्या होता है, उच्चता और नीचता का निर्णय तो आचरण से होना चाहिए, न कि कुल से। **गुरुपना तो एकदम व्यक्तिगत है, किसी कुल या परिवार को गुरु कैसे माना जा सकता है ?**

कुछ लोग कहते हैं कि हमारे पूर्वजों में बड़े-बड़े धर्मात्मा हो गये हैं, सन्त हो गये हैं; विद्वान हो गये हैं, त्यागी-तपस्वी हो गये हैं, दानवीर हो गये हैं; इसलिए हम भी महान हैं; उनसे पण्डितजी कहते हैं कि पूर्वजों की महानता से तुम महान कैसे हो सकते हो ?

यदि तुम्हें महान बनना है तो तुम्हें स्वयं महान कार्य करने होंगे। पूर्वजों की महानता उनके साथ गई, वह तुम्हारे किसी काम आनेवाली नहीं है।

जिसप्रकार डॉक्टर के बेटे को डॉक्टर, वकील के बेटे को वकील, विद्वान के बेटे को विद्वान नहीं माना जा सकता; उसीप्रकार तुम्हें भी पूर्वजों के कारण महान नहीं माना जा सकता।

दिगम्बर जैनदर्शन में तो यह बात किसी भी स्थिति में संभव नहीं है; क्योंकि दिगम्बर जैनों में देव-शास्त्र-गुरुवाले गुरु तो नग्न दिगम्बर पूर्ण ब्रह्मचारी ही होते हैं; अत: उनके कोई संतान होना ही संभव नहीं है।

यद्यपि आज कुल से गुरु मानने की बात समाप्तप्राय: ही है; तथापि पण्डित टोडरमलजी के युग में विशेषकर जैनेतरों में इसप्रकार की प्रवृत्तियाँ बहुत थीं। यही कारण है कि पण्डितजी ने महाभारतादि के उदाहरण देकर इस बात को स्पष्ट करने का प्रयास किया है।

यद्यपि दिगम्बर जैनदर्शन में सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक सकल संयमधारी नग्न दिगम्बर मुनिराजों को ही गुरु संज्ञा प्राप्त है; तथापि आज की स्थिति तो यह है कि कोई भी व्यक्ति; घर छोड़ा, चादर ओढ़ी और अपने को गुरु मानने लगता है, मनवाने लगता है।

वैसे तो जैनदर्शन में ब्रह्मचर्य व्रत सातवीं प्रतिमा में होता है। सातवीं प्रतिमा का नाम भी ब्रह्मचर्य प्रतिमा है। उसके पहले ब्रह्मचर्याणुव्रत तो हो सकता है, पूर्ण ब्रह्मचर्य नहीं। अरे, भाई ! ब्रह्मचर्याणुव्रत भी मिथ्यात्व, अनन्तानुबंधी और अप्रत्याख्यानावरण कषाय के अभावपूर्वक होनेवाले सम्यग्दर्शन-ज्ञान व अणुव्रतरूप देशचारित्र पूर्वक होता है। न सम्यग्दर्शन का ठिकाना है, न सम्यग्ज्ञान का पता है, अणुव्रती भी नहीं है और ब्रह्मचारी हो गये और मानने लगे कि हम जगत से हट के हैं, कुछ विशेष हैं; इसलिए जगत के गुरु हैं।

अरे, भाई ! **पत्नी या पति का नहीं होना ही तो ब्रह्मचर्य नहीं है। ऐसा तो पाप के उदय में भी हो सकता है;** अधिकांशत: होता भी ऐसा ही है। तुलसीदासजी ने भी लिखा है ह्न

नारि मुई अर संपति नाशी। मूढ़ मुड़ाय भये सन्यासी।।

आज तो मूढ़ मुड़ाने की भी जरूरत नहीं है, लम्बे-लम्बे बाल रख लेने से भी काम चल जाता है।

उक्त संदर्भ में पण्डितजी कहते हैं कि अकेला अब्रह्म (कुशील) ही तो पाप नहीं है; हिंसा, झूठ, चोरी और परिग्रह भी तो पाप हैं; क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषायें भी तो पाप हैं और मिथ्यात्व तो पाप के बाप का भी बाप है। जो इन सब पापों को छोड़े बिना ही अपने को महान मानने लगे तो उसके लिए क्या कहा जाय ?

सामान्य गृहस्थों में तो थोड़ी-बहुत सहनशीलता देखी भी जाती है; क्योंकि उन्हें अपने परिवार के साथ तो समायोजन करना ही पड़ता है; पर ये तो.......। इनकी स्थिति तो यह है कि न सम्यग्दर्शन, न सम्यग्ज्ञान, न उन्हें प्राप्त करने की ललक; न तत्त्वज्ञान, न उसे प्राप्त करने के लिए अभ्यास ; न अध्ययन, न मनन, न चिन्तन, न खान-पान की मर्यादा; बस कोरे ब्रह्मचारी बन गये हैं और इसी के आधार पर स्वयं को गुरु मानकर पुजना चाहते हैं। यदि कोई उन्हें न पूजे, नमस्कारादि न करे तो फिर देखो इनका रंग, देखते ही बनता है।

पण्डितजी ने उस समय का जो चित्र खीचा है; आज की स्थिति तो उससे भी बदतर है।

सामान्यजनों के समान ही निरन्तर जगत प्रपंचों में उलझे रहना, कषायचक्र में जलते रहना, उबलते रहना, दंद-फंद करते रहना ह्न क्या यही काम रह गया इन ब्रह्मचारियों को, गृहत्यागियों को ? यह एक गंभीर प्रश्न है।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि पण्डित टोडरमलजी और आध्यात्मिक-सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी ह्न दोनों अविरत थे, सम्यग्दृष्टि थे; अविरत सम्यग्दृष्टि थे और आप स्वयं दोनों को गुरु मानते हैं, गुरुदेव कहते हैं। ह्न इसका क्या उत्तर है आपके पास ?

अरे, भाई ! बात उत्तर की नहीं है, वस्तुस्थिति यह है कि देव-शास्त्र-गुरु में जिन्हें गुरु माना गया है, जिनकी हम अरहंतदेव के समान ही प्रतिदिन पूजन करते हैं; इसप्रकार के गुरु न तो पण्डित टोडरमलजी थे और न आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी ही थे। न तो वे स्वयं को देव-शास्त्र-गुरुवाला गुरु मानते थे और न हम ही उन्हें देव-शास्त्र-गुरुवाला गुरु मानते हैं।

जिसप्रकार लोक में किसी भी विषय को पढ़ानेवाला कोई भी अध्यापक उनसे पढ़नेवाले छात्रों का गुरु कहलाता है; उसीप्रकार जैनदर्शन का मर्म बतानेवाले, पढ़ानेवाले; अध्यात्म का रहस्य समझानेवाले भी तो गुरु ही हैं। **लौकिक विषय पढ़ानेवालों से तो वे असंख्यगुणे महान हैं, उपकारी हैं; इसी अपेक्षा हम उन्हें गुरुदेव कहते हैं। उनके उपकार को स्मरण करते हैं; उनकी पूजा नहीं करते।**

कविवर रवीन्द्रनाथ टैगोर भी तो गुरुदेव ही कहे जाते थे। महाराष्ट्र में आज भी हर अध्यापक को गुरुजी कहकर बुलाते हैं। हम जब पढ़ते थे; तब अपने अध्यापक पण्डित नन्हेलालजी शास्त्री को गुरुजी ही कहते थे।

यहाँ जो प्रकरण चल रहा है, वह देव-शास्त्र-गुरुवाले गुरु का है। उसे इससे मिलाने की आवश्यकता नहीं है।

इसप्रकार का प्रश्न एक बार मैंने स्वयं स्वामीजी से किया था, जिसका उत्तर उन्होंने इसप्रकार दिया था ह्न

''**प्रश्न ह्न** आपको लोग गुरुदेव कहते हैं। क्या आप साधु हैं ? गुरु तो साधु को कहते हैं ?

उत्तर ह्न साधु तो नग्न दिगम्बर छठवे-सातवे गुणस्थान की भूमिका में झूलते भावलिंगी वीतरागी सन्त ही होते हैं। हम तो सामान्य श्रावक हैं, साधु नहीं। हम तो साधुओं के दासानुदास हैं। अहा ! वीतरागी सन्त कुन्दकुन्दाचार्य, अमृतचन्द्र आदि मुनिवरों के स्मरण मात्र से हमारा रोमांच हो जाता है।

प्रश्न ह्न तो फिर आपको लोग गुरुदेव क्यों कहते हैं ?

उत्तर ह्न भाई ! गोपालदासजी बरैया को भी तो गुरु कहते थे। **देव-**

शास्त्र-गुरुवाले गुरु तो पंचपरमेष्ठी में आचार्य, उपाध्याय, साधु ही हैं। हमसे लोग अध्यात्म सुनते हैं, सीखते हैं, सो गुरुदेव कहते हैं।

प्रश्न ह्र तो आपको गुरुदेव विद्यागुरु के अर्थ में कहा जाता है, देव-शास्त्र-गुरु के अर्थ में नहीं ?

उत्तर ह्र हाँ, हाँ; यही बात है। भाई ! हम तो कई बार कहते हैं कि वस्त्रादि रखे और अपने को देव-शास्त्र-गुरुवाला गुरु माने, मनवावे; वह तो अज्ञानी है। इससे अधिक हम क्या कहें ?[१]''

यह बात आज से ३३ वर्ष पहले उस समय की है, जब जुलाई १९७६ ई. में सोनगढ से प्रकाशित और आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी के प्रवचनों का प्रसारक आत्मधर्म (आध्यात्मिक मासिक) का संपादन मुझे सौंपा गया था; तब सबसे पहले मेरे संपादन में प्रकाशित होनेवाले पहले ही अंक में संपादकीय के रूप में, उनसे लिया गया एक साक्षात्कार (इन्टरव्यू) प्रकाशित किया था; जिसमें उनके मुख के माध्यम से उन सभी शंकाओं का समाधान प्रस्तुत किया गया था; जो उनके विरुद्ध बुद्धिपूर्वक फैलाई जा रही थीं।

उक्त अंश उसी साक्षात्कार का है। जिन्हें विशेष जिज्ञासा है, वे लोग चैतन्यचमत्कार नामक पुस्तक में उसे पूरा पढ़ सकते हैं, वह पुस्तक हमारे यहाँ अभी भी उपलब्ध है।

प्रश्न – आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजी स्वामी भी तो भाई-बहिनों को ब्रह्मचर्यव्रत देते थे ? जिन्हें वे ब्रह्मचर्यव्रत देते थे; क्या वे सभी सम्यग्दृष्टि-सम्यग्ज्ञानी होते थे, अणुव्रती होते थे ? यदि नहीं तो फिर......।

उत्तर – जब वे किसी को ब्रह्मचर्यव्रत देते थे तो पहले वर्षों तक तत्त्वाभ्यास कराते थे, निवृत्तिमय जीवन जीने की प्रेरणा देते थे। न केवल प्रेरणा देते थे, अपितु लोग उनके सान्निध्य में रहकर वर्षों तत्त्वाभ्यास करते थे; जब वे उनके अध्ययन और आचरण से पूरी तरह संतुष्ट हो जाते थे,

१. चैतन्यचमत्कार, पृष्ठ ७-८

तब भी ब्रह्मचर्यव्रत देते समय यह साफ-साफ कहते थे कि यह ब्रह्मचर्य प्रतिमावाला ब्रह्मचर्य नहीं है। यह तो तत्त्वाभ्यास के लिए पर्याप्त समय मिल सके; इसलिए निवृत्ति का मार्ग है। यह तो मात्र शादी न करके पूरी तरह स्वाध्याय में जीवन समर्पित करके सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति के प्रयास के लिए समर्पित होने का मार्ग है; क्योंकि शादी के बाद उलझाव ही उलझाव रहते हैं। इसलिए वे कहते थे कि यह काया का ब्रह्मचर्य है, मन-वचन के पूर्ण ब्रह्मचर्य के लिए तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और कम से कम ७वीं प्रतिमा के योग्य देशचारित्र होना आवश्यक है।

यही कारण है कि वे किसी वेष को धारण करने की बात नहीं करते थे, उनसे ब्रह्मचर्य लेनेवाले सभी वही अपनी पुरानी पोशाक धोती-कुर्ता ही पहनते थे।

प्रश्न ह्र पर वे स्वयं तो..........।

उत्तर ह्र जब उन्होंने दिगम्बर धर्म स्वीकार किया; उसके पूर्व वे स्थानकवासी श्वेताम्बर साधु थे। अत: जिस वेष में रहते थे, उसमें से स्थानकवासी श्वेताम्बर साधुत्व की निशानी मुहपट्टी तो उन्होंने छोड़ दी, शेष वैसे ही कपड़े पहनते रहे। उन्हें लगा कि अब क्या धोती-कुर्ता पहनूँ; पर वे स्पष्ट कहते रहे कि मैं कोई साधु नहीं हूँ, मेरे कोई प्रतिमा भी नहीं है। **यदि वे अपने वेष को ब्रह्मचारियों का वेष मानते होते तो जिन्होंने उनसे ब्रह्मचर्य लिया था, कम से कम वे लोग तो उनके वेष में रहते।**

जैनदर्शन में साधुता के तीन ही वेष (लिंग) हैं। एक नग्न दिगम्बर मुनिराज का, दूसरा उत्कृष्ट श्रावक का और तीसरा आर्यिकाओं का। इसके अतिरिक्त कोई वेष दिगम्बर जिनधर्म में मान्य नहीं है।

उक्त संदर्भ में पण्डित टोडरमलजी का मोक्षमार्गप्रकाशक में समागत निम्नांकित कथन दृष्टव्य है ह्र

''तथा कितने ही प्रकार का वेष धारण करने से गुरुपना मानते हैं; परन्तु वेष धारण करने से कौनसा धर्म हुआ कि जिससे उन्हें धर्मात्मा-गुरु

मानें ? वहाँ कोई टोपी लगाते हैं, कोई गुदड़ी रखते हैं, कोई चोला पहिनते हैं, कोई चादर ओढ़ते हैं, कोई लाल वस्त्र रखते हैं, कोई श्वेत वस्त्र रखते हैं, कोई भगवा रखते हैं, कोई टाट पहिनते हैं, कोई मृगछाला रखते हैं, कोई राख लगाते हैं ह्न इत्यादि अनेक स्वांग बनाते हैं।

परन्तु यदि शीत-उष्णादिक नहीं सहे जाते थे, लज्जा नहीं छूटी थी, तो पगड़ी जामा इत्यादि प्रवृत्तिरूप वस्त्रादि का त्याग किसलिए किया ? उनको छोड़कर ऐसे स्वांग बनाने में धर्म का कौनसा अंग हुआ ?

गृहस्थों को ठगने के अर्थ ऐसे वेष जानना। यदि गृहस्थ जैसा अपना स्वांग रखे तो गृहस्थ ठगे कैसे जायेंगे ? और इन्हें उनके द्वारा आजीविका व धनादिक व मानादि का प्रयोजन साधना है; इसलिए ऐसा स्वांग बनाते हैं। भोला जगत उस स्वांग को देखकर ठगाता है और धर्म हुआ मानता है; परन्तु यह भ्रम है। यही कहा है ह्न

जह कुवि वेस्सारत्तो मुसिज्जमाणो विमण्णए हरिसं।
तह मिच्छवेसमुसिया गयं पि ण मुणंति धम्मणिहिं।।

(उपदेशसिद्धान्तरत्नमाला)

जैसे कोई वेश्यासक्त पुरुष धनादिक को ठगाते हुए भी हर्ष मानते हैं; उसीप्रकार मिथ्यावेष द्वारा ठगे गये जीव नष्ट होते हुए धर्मधन को नहीं जानते हैं। इन मिथ्यावेषवाले जीवों की सुश्रुषा आदि से अपना धर्मधन नष्ट होता है, उसका विषाद नहीं है, मिथ्याबुद्धि से हर्ष करते हैं।

वहाँ कोई तो मिथ्याशास्त्रों में जो वेष निरूपित किये हैं, उनको धारण करते हैं; परन्तु उन शास्त्रों के कर्त्ता पापियों ने सुगम क्रिया करने से उच्चपद प्ररूपित करने में हमारी मान्यता होगी व अन्य बहुत जीव इस मार्ग में लग जायेंगे, इस अभिप्राय से मिथ्या उपदेश दिया है।

उसकी परम्परा से विचार रहित जीव इतना भी विचार नहीं करते कि सुगमक्रिया से उच्चपद होना बतलाते हैं सो यहाँ कुछ दगा है। भ्रम से उनके कहे हुए मार्ग में प्रवर्तते हैं।

तथा कोई शास्त्रों में तो कठिन मार्ग निरूपित किया है, वह तो सधेगा नहीं और अपना ऊँचा नाम धराये बिना लोग मानेंगे नहीं; इस अभिप्राय से यति, मुनि, आचार्य, उपाध्याय, साधु, भट्टारक, संन्यासी, योगी, तपस्वी, नग्न ह्न इत्यादि नाम तो ऊँचा रखते हैं और इनके आचारों को साध नहीं सकते; इसलिए इच्छानुसार नाना वेष बनाते हैं तथा कितने ही अपनी इच्छानुसार ही नवीन नाम धारण करते हैं और इच्छानुसार ही वेष बनाते हैं।

इसप्रकार अनेक वेष धारण करने से गुरुपना मानते हैं; सो यह मिथ्या है।

यहाँ कोई पूछे कि वेष तो बहुत प्रकार के दिखते हैं, उनमें सच्चे-झूठे वेष की पहिचान किसप्रकार होगी ?

समाधान ह्न जिन वेषों में विषय-कषाय का किंचित् लगाव नहीं है, वे वेष सच्चे हैं। वे सच्चे वेष तीन प्रकार के हैं; अन्य सर्व वेष मिथ्या हैं।

वही षटपाहुड़ में कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा है ह्न

एगं जिणस्स रूवं बिदियं उक्किट्ठसावयाणं तु।
अवरट्ठियाण तइयं चउत्थ पुण लिंगदंसणं णत्थि।।१८।।

(दर्शनपाहुड़)

एक तो जिनस्वरूप निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनिलिंग, दूसरा उत्कृष्ट श्रावकों का रूप ह्न दशवीं, ग्यारहवीं प्रतिमाधारी श्रावक का लिंग, तीसरा आर्यिकाओं का रूप ह्न यह स्त्रियों का लिंग ह्न ऐसे यह तीन लिंग तो श्रद्धापूर्वक हैं तथा चौथा कोई लिंग सम्यग्दर्शनस्वरूप नहीं है।

इन तीन लिंग के अतिरिक्त अन्य लिंग को जो मानता है, वह श्रद्धानी नहीं है, मिथ्यादृष्टि है तथा इन वेषियों में कितने ही वेषी अपने वेष की प्रतीति कराने के अर्थ किंचित् धर्म के अंग को भी पालते हैं।

जिसप्रकार खोटा रुपया चलानेवाला उसमें कुछ चांदी का अंश भी रखता है; उसीप्रकार धर्म का कोई अंग दिखाकर अपना उच्चपद मानते हैं।[१]''

१. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ १७७-१७८